॥ श्रीहरिः ॥

386▲

# सत्सङ्ग-सुधा

एक साधु

॥ श्रीहरिः ॥

# विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

॥ श्रीहरिः ॥

# निवेदन

इस पुस्तकमें प्रकाशित लेख हमारे एक अति निकटस्थ ऐसे साधुके द्वारा बड़े आग्रह करनेपर लिखे गये हैं, जो अपना नाम प्रकट नहीं करना चाहते। लेखोंमें 'भगवान्‌के विश्वास' की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बातें हैं। इनसे पाठकोंको विशेष लाभ उठाना चाहिये।

गोरखपुर
श्रावण-शु० १५, सं० २००९

हनुमानप्रसाद पोद्दार
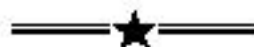
॥ श्रीहरिः ॥

# सत्सङ्ग-सुधा

## प्रार्थना

जिस समय हमारे चारों ओर विपत्तिके बादल मँड़राने लगते हैं, अन्धकार छा जाता है, कोई साथी नहीं रहता, पथ दिखानेवाला भी कोई नहीं होता, उस समय—यदि हमारे अन्दर थोड़ी भी आस्तिकता रहती है तो हम बरबस भगवान्‌की ओर मुड़कर पुकार उठते हैं—'नाथ! रक्षा करो, पथ दिखाओ।' तथा हममेंसे बहुतोंका यह अनुभव है कि पुकार लगते ही ऐसे विचित्र ढंगसे हमारी रक्षा हो जाती है कि जिसकी कल्पनातक नहीं हो सकती। ऐसा क्यों होता है ? इसीलिये कि भगवान् अपने सम्पूर्ण ज्ञान, अनन्त सामर्थ्य, अनन्त सौहार्दको लिये नित्य हमारे साथ हैं, उनसे हृदयका संयोग होते ही उनकी सम्पूर्ण शक्ति हमारी आवश्यकता पूर्ण करनेके लिये प्रकट हो जाती है। जहाँ उनकी अप्रमेय शक्ति अपरिसीम सौहार्दको व्यक्त होनेका अवसर मिला कि काले बादल बिखर गये, निर्मल प्रकाश छा गया, भार हर लेनेवाले साथी आ पहुँचे, सुविस्तीर्ण निष्कण्टक पथ दीख गया तथा कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे प्रभुके चरणोंमें सिर नवाकर हम गन्तव्यकी ओर चल पड़े।

किन्तु प्रभुसे हमारे हृदयका यह संयोग स्थायी नहीं हो पाता, इस क्षणके बाद हमारा जीवन भगवत्-प्रार्थनामय नहीं बन जाता। अनुकूल परिस्थिति आते ही हम प्रभुको भूलने लगते हैं, 'प्रभुकी प्रार्थना ऐसी अद्भुत चमत्कारकी वस्तु है' यह स्मृति भी हम धीरे-धीरे खो बैठते हैं।

इनसे भिन्न कुछ ऐसे प्राणी भी हैं, जो स्वाभाविक प्रायः भगवान्‌की

प्रार्थना करते हैं। उनमें सब तो नहीं, पर अधिकांश कैसी प्रार्थना करते हैं, यह विचारणीय है। संक्षेपमें कहनेपर उनकी प्रार्थनाका रूप यह है—'नाथ ! मुझे अमुक वस्तु दो, अमुक प्रकारसे दो और अमुक समयमें दो।' अर्थात् कौन-सी वस्तु मिले इसका निर्णय तो हम कर ही देते हैं। उस वस्तुकी प्राप्ति किस उपायसे हो तथा किस समय हो, यह भी हम ही पहलेसे उन्हें सूचित कर देते हैं। मानो भगवान्‌में यह ज्ञान नहीं कि वे हमारी यथार्थ आवश्यक वस्तुका निर्णय कर सकें, उसकी प्राप्तिका उपाय स्थिर कर सकें तथा ठीक समयपर हमें लाकर दे सकें। होना तो यह चाहिये कि हम प्रार्थना करें कि 'नाथ ! तुम्हारी जो इच्छा हो, वह मुझे दो, जिस प्रकारसे देना चाहो, उस प्रकारसे ही दो तथा जब देना चाहो तभी दो।' क्योंकि उनके समान या उनसे बढ़कर सर्वज्ञ तथा सर्वथा निर्मूल शुभचिन्तक हमारे लिये और कौन होगा; किन्तु यह न करके हम प्रभुके सामने अपनी क्षुद्र भावनाओंको ही रखते हैं। फिर भी यह प्रार्थनाकी श्रेणीमें अवश्य है, क्योंकि उस समय हमारे हृदयका प्रभुसे संयोग तो होता ही है। भगवान् ऐसी प्रार्थनासे नाराज बिल्कुल नहीं होते, वे तो कभी भी किसीपर भी किसी कारणसे भी नाराज होते ही नहीं; किन्तु ऐसी प्रार्थनाओंका यथोचित परिणाम हमें तुरन्त मिल ही जाय यह निश्चित नहीं। वे सफल भी हो सकती हैं, नहीं भी; क्योंकि प्रभुके अनन्त मङ्गलमय विधानसे अविरोधी प्रार्थनाएँ ही तत्क्षण सफल होती हैं। जो प्रार्थीके लिये परिणाममें अहितकर प्रार्थनाएँ हैं, वे सफल नहीं होतीं। परम मङ्गलमयसे अमङ्गलका दान किसीको मिल जो नहीं सकता।

उपर्युक्त दोनोंसे अतिरिक्त कुछ ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जो भगवान्‌से केवल भगवान्‌के लिये—भगवत्प्रेमके लिये ही प्रार्थना करते हैं। जगत्‌की किसी वस्तुकी चाह उनके मनमें नहीं होती।

विषयोंका प्रलोभन उन्हें जरा भी नहीं सताता। उनका हृदय सहज और सतत भगवान्‌से जुड़ा हुआ होता है।

इस तीसरी श्रेणीकी प्रार्थनामें तो प्रार्थीको कुछ सीखनेकी आवश्यकता नहीं होती, प्रार्थनाकी सारी विधियाँ उसकी प्रार्थनामें सहज ही वर्तमान रहती हैं। वास्तवमें सच्ची और कल्याणमयी भगवत्प्रार्थना है भी यही, मानव-जीवनकी सफलता भी इसी प्रार्थनामें है। क्षुद्र भोगोंके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करना तो भगवान्‌की कृपामयतापर, उनके परम मङ्गलमय विधानपर अविश्वासका ही द्योतक है। मानो भगवान्‌को हमारी चिन्ता नहीं, हमारी आवश्यक वस्तु वे हमें नहीं दे रहे हैं, ऐसी भावना हमारी अन्तश्चेतनामें छिपी होती है। फिर भी हमें तो वहाँसे आगे बढ़ना है, जहाँ हम खड़े हैं। यदि हम प्रभुपर सर्वथा निर्भर नहीं हो सकते तो पूर्ण निर्भरताका स्वाँग भरनेसे काम नहीं चलता, हमें तो अपने मानसिक धरातलके अनुरूप ही मार्ग अपनाना पड़ेगा। हममेंसे अधिकांश पूर्ण निर्भरताका मार्ग नहीं ग्रहण कर सकते, अतः पहलेकी दो प्रार्थनाओंको ही हमलोग अपनाते हैं; किन्तु इन दोनों प्रार्थनाओंमें भी कुछ जाननेयोग्य बातें हैं, उन्हें जानकर समझकर फिर की हुई प्रार्थना बड़ी मूल्यवान् होती है। वह प्रार्थना जीवनको नीचे स्तरसे उठाकर भगवान्‌के दिव्य आलोकमें पहुँचा देती है।

१—भगवान्‌से हम जिस वस्तुके लिये प्रार्थना करते हैं, उस वस्तुकी तीव्र चाह हमारे मनमें हो, यदि उस वस्तुके बिना भी हमारा काम किसी चीजसे चल जाता हुआ दीखता हो तो समझना चाहिये कि उस वस्तुकी तीव्र चाह हमारे मनमें नहीं है।

२—उस वस्तुको पाना ही है, यह दृढ़ निश्चय हो। यदि वस्तुकी प्राप्तिमें रह-रहकर उत्साह शिथिल पड़ जाता हो तो मानना चाहिये कि निश्चय दृढ़ नहीं है।

३—पूर्ण धैर्य हो। प्रार्थना आरम्भ करनेके बाद फल प्रकट होनेतक अधीरताकी छाया भी मनको न छू पावे, साथ ही फल प्रकट हुआ कि नहीं यह देखनेकी ओर वृत्ति ही न जाय। बीज बोकर जलसे सींचकर फिर तुरन्त ही उसे उखाड़कर देखा नहीं जाता कि बीजमें अङ्कुर लगा या नहीं।

४—प्रार्थनाका तार न टूटे। फल प्रकट होनेतक यथासाध्य अनवरत अविराम पूर्ण तत्परताके साथ प्रार्थना चलती रहे।

५—यह अखण्ड अविचल विश्वास मनमें निरन्तर जागरूक रहे कि प्रभु यहाँपर अवश्य हैं, यह वस्तु वे हमें दे सकते हैं, अवश्य देंगे। जो कोई भी उनके सामने जिस वस्तुके लिये उपस्थित होता है, उसे वे वह वस्तु अवश्य देते हैं। हमें भी वे अवश्य देंगे। हमें यह वस्तु निश्चय ही मिलेगी। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

६—किन्तु प्रार्थनाके समय प्रभुके समक्ष उस वस्तुके लिये रोना, रोनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रार्थनाका रूप तो होना चाहिये—प्रभुसे हृदयका मिलन, हृदयका एकीकरण, प्रभुके रूपमें तन्मयता, अंशका अंशीमें मिल जाना; प्रभुके समग्र ऐश्वर्य, समग्र वीर्य, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्यमें अपनी सत्ता खो देना। इस मिलनका आनुषङ्गिक परिणाम होगा इच्छाकी पूर्ति—इष्ट वस्तुकी प्राप्ति। कल्पना करें, गलित कुष्ठसे शरीर पीड़ित है अथवा भयानक फोड़ा होकर उसमें मवाद भर आया है, वेदनासे प्राण व्याकुल हैं। इनसे त्राण पानेके लिये हम प्रभुसे प्रार्थना करने चलें। अब यह नहीं कि हम अपने मानसिक नेत्रोंके सामने गलित कुष्ठका चित्र रखकर उसका चिन्तन आरम्भ करें, फोड़ेका विकराल रूप प्रभुके सामने रखें।

ऐसा करना तो प्रार्थनाकी पद्धतिसे दूर चले जाना है। हमें तो चाहिये कि हम प्रभुके उस निरामय स्वरूपका चिन्तन करें, जिसमें विकृति नहीं, अभाव नहीं, दुर्गन्ध नहीं, मलिनता नहीं; जो अनिन्द्य सुन्दर है, सर्वथा सर्व ओरसे सदा पूर्ण है, अनन्त सौरभका निवास है और जो परम दिव्य है। उनकी वह निरामय, मञ्जु, समग्र सुरभित, ज्योतिर्मय सत्ता हमारे शरीरके अणु-अणुमें व्याप्त है, ऐसी दृढ़ भावना हम बार-बार करें। प्रभुसे अनुप्राणित हमारे इस शरीरका अणु-अणु रोगसे शून्य, मनोहर, सुन्दर, नित्य पूर्ण, सुवासमय, एक चिन्मय ज्योतिसे उद्भासित हो रहा है, ऐसा अनुभव करनेका बारम्बार हम प्रयास करें। कुष्ठकी, फोड़ेकी हमें सर्वथा विस्मृति हो जाय; उसके स्थानपर अविकारी, सम्पूर्ण, नित्य रुचिर, सुरभिमय, परमोज्ज्वल प्रभुकी सत्ता व्यक्त दीखने लगे, ऐसी चेष्टा हमारी हो। विश्वास एवं लगनके साथ ऐसी धारणा करनेपर ऐसी भावना हो जाना कठिन नहीं है। तथा भावना दृढ़ हुई कि प्रभुका दिव्य चमत्कार हमारे अनजानमें ही उस गले शरीरपर, फोड़ेसे व्याकुल त्वचापर प्रकट हो जायगा। यह कल्पना नहीं, ध्रुव सत्य है। भारतीय शास्त्र तो ऐसे अगणित प्रमाणोंसे भरे हैं ही। आज भी ऐसी घटनाएँ प्रत्यक्ष होती हैं। इस विज्ञानयुगके प्रतिभाशाली विज्ञानवेत्ताओंकी दृष्टिके सामने भी होती हैं, हुई हैं। नोबेल पुरस्कार-विजेता, संसारप्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं सर्जन डॉक्टर अलेक्सिस कारेल्का कहना है कि उन्होंने स्वयं आँखोंसे देखा है—एकमात्र केवल प्रार्थनासे कुछ ही क्षणोंमें मुँहके घाव, शरीरके अन्य घाव, कैंसर, मूत्राशयके रोग और यक्ष्मा आदि रोगोंसे पीड़ित रोगियोंके ये रोग मिट गये हैं।

अच्छा, रोगसे मुक्त होनेकी बात तो ठीक। हमें तो धन चाहिये। घरमें युवती कन्या है, उसका विवाह करना है, पर भरपेट भोजनके

लिये अन्न नहीं है, शरीर ढकनेके लिये पर्याप्त वस्त्र नहीं है। क्या भगवत्-प्रार्थनामात्रसे हमें धन मिल जायगा ? अवश्य मिल जायगा, किन्तु प्रार्थना ठीक-ठीक होनी चाहिये। अन्य आवश्यक बातोंके साथ-साथ हमें प्रार्थनाके समय अपनी दरिद्रताकी भावना, अपनी गिरी हुई स्थितिकी स्मृति मिटा देनी होगी। उसके स्थानपर हम प्रभुके सर्वसम्पन्नमय रूप, अनन्त श्रीसम्पन्न सत्ताका स्मरण करें, उसमें अपना मन डुबा दें। 'यह अनन्त आकाश, अपरिसीम सागर, विस्तीर्ण भूभाग, ऊँची पर्वतमालाएँ, नदी-निर्झर, सरोवर, वन, उपवन, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, भृङ्ग, सोना, रूपा, हीरा, मोती, नीलम, पन्ना, पुखराज—इन अगणित वैभवोंके निर्माण करनेवाले जो प्रभु हमारे अन्दर नित्य वर्तमान हैं, उनमें अपने मनको लीन करें। हम ऐसी भावना करें कि प्रभुका अनन्त वैभव हमारे चारों ओर फैला हुआ है, उसपर हमारा अधिकार है, क्योंकि हम तो उनके हैं। भगवान्‌के नेत्रोंसे यह स्पष्ट अनुभव करें कि प्रभुकी अनन्त विभूति हमें तो प्राप्त ही है। हमारे लिये तो किसी अभावकी कल्पना ही नहीं है। विश्वासपूर्वक यदि वास्तवमें हम ऐसी भावना दृढ़ कर सकें तो निश्चित है हमारे लिये आवश्यक इच्छित धनकी व्यवस्था प्रभुके विधानसे होकर ही रहेगी।

सारांश यह कि हम जो वस्तु चाहते हैं उसके अभावकी ओरसे वृत्तियोंको हटाकर यह वस्तु जिन प्रभुमें पूर्णरूपसे नित्य वर्तमान है, उनमें केन्द्रित करें। हम अमुक वस्तु नहीं है, अमुक नहीं है, इस प्रकारके चिन्तनसे विरत होकर जहाँ हमारी चाहकी वस्तु पूर्णरूपमें सदा अवस्थित है, उसका चिन्तन करें।

७—यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि विश्वस्रष्टा प्रभुके ही हम एक अंश हैं। अतः प्रभुके गुण हममें भी अंशरूपसे अवश्य वर्तमान हैं।

प्रभुने सृष्टिसे पूर्व यह सङ्कल्प किया—**'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'** मैं एक ही बहुत हो जाऊँ। इस चिन्तन—सङ्कल्पका परिणाम यह हुआ कि यह विशाल विश्व सृष्ट हुआ, मूर्त हो गया। तो चिन्तनके द्वारा वस्तुका निर्माण करनेकी शक्ति हमारे अन्दर भी अवश्य है, क्योंकि हम विश्वस्रष्टाके अंश जो ठहरे। इसीलिये हम भी चिन्तनके द्वारा अपने लिये वस्तुका निर्माण कर सकते हैं; करते हैं। यह नियम है। हमारे प्रत्येक विचार मनसे सृष्ट होनेपर बाहर भी उसके अनुरूप ही आकार धारण करते हैं। यदि प्रार्थनाके समय हम अभावका, मलिनताका ही चिन्तन करें—'नाथ ! देखो, इस वस्तुके अभावमें मुझे कितना कष्ट हो रहा है, हाय ! मेरी कैसी गिरी दशा है।' इन भावोंकी ही आवृत्ति करते रहें तो अभावजन्य व्यथाकी, पतनकी मूर्तियाँ ही निर्मित होंगी तथा प्रभुकी पूर्ण परम सौन्दर्यमयी सत्तासे हमारे हृदयका क्षणिक संयोग होकर भी ये विचारकी अशुभ मूर्तियाँ बीचमें व्यवधान बनती जायँगी। पर ठीक इससे विपरीत यदि हम प्रार्थनाके समय ऐसा चिन्तन आरम्भ करें—'हमें तो सब कुछ प्राप्त है, हमारा सब कुछ सुन्दर है, नाथ ! तुम्हारी कृपासे मैं कितने आनन्दमें हूँ; किस प्रकार मैं प्रतिक्षण ऊपर उठ रहा हूँ।' ऐसे विचारके समय महामहिम प्रभुसे हमारा संयोग तो हो ही रहा है, साथ ही इष्टप्राप्तिजन्य सुखकी, उत्थानकी शुभ मूर्तियाँ भी निर्मित हो रही हैं। विचारोंसे निर्मित ये शुभ मूर्तियाँ हमारे लिये सहायक बनती जा रही हैं। करुणासागर भगवान्‌की ओरसे जो कृपाकी लहरें हमारी ओर आती रहती हैं, उन्हें ये मूर्तियाँ बड़े वेगसे आकर्षित करने लगती हैं। देखते-ही-देखते हमारे शुभ विचार भगवान्‌के मङ्गलमय विधानसे जुड़ जाते हैं तथा फिर हमारे लिये बाहर एक शुभसे पूर्ण संसार मूर्त हो जाता है। तुरन्त ही वे प्रतिकूल परिस्थितियाँ मिट जाती हैं तथा उनके

स्थानपर हमारी मनोवाञ्छित परिस्थिति प्रकट हो जाती है। कहनेका तात्पर्य यह कि किसी वस्तुके लिये प्रार्थना करनेपर हमारे अन्दर जो विचारके द्वारा वस्तु-निर्माण करनेकी शक्ति है, इसको भी सहायक बना लेना चाहिये। यह बाधक न बन जाय इस बातसे सावधान रहना चाहिये। हर्ष, उत्थान, पूर्णता आदिकी भावना करना अपनी उस शक्तिको सहायक बना लेना है और विषाद, निराशा, शोक तथा दुःखकी भावना करना उन्हें बाधक बना लेना है।

८—प्रार्थनासे पूर्व धीरतापूर्वक हमें विचार कर लेना चाहिये कि हमारी इच्छित वस्तु, जिसके लिये हम प्रार्थना करने जा रहे हैं, कहीं दूसरेके हितकी विरोधी वस्तु तो नहीं है ? मान लें यह इच्छा उत्पन्न हुई कि 'हमारे अमुक शत्रुका विनाश हो जाय' तथा इस इच्छाकी पूर्तिके लिये हम प्रार्थना करने चलें—तो इसकी पूर्तिके लिये प्रार्थनाका आधार हमें भगवान्‌में कदापि नहीं मिलेगा। हम अपने भ्रान्त मलिन मनसे प्रभुमें ऐसे आधारका आरोप कर लें यह बात दूसरी है, पर वास्तवमें ऐसी प्रार्थनाके लिये आश्रय भगवान्‌में है ही नहीं। प्रभुमें किसीके भी प्रति शत्रुत्व अथवा द्वेषकी कल्पना ही जो नहीं है। उनकी दृष्टिमें उनके सिवा और है ही क्या जिसके प्रति वे द्वेष करें। अपने-आपके ही प्रति किसीका द्वेष होता है क्या ? अतः ऐसी प्रार्थना करनेवालेको तो निराश ही होना पड़ेगा। काकतालीय-न्यायसे कोई घटना घट जाय और हम उसे अपनी प्रार्थनासे हुई मान लें तो यह तो हमारी बुद्धिका भ्रम है। वास्तवमें भगवान्‌में ऐसी प्रार्थनाका बीजतक टिकनेका स्थान नहीं है। हमें चाहिये कि यदि ऐसी इच्छा हमारे मनमें कभी जाग्रत् हो तो उस इच्छामें हम पहलेसे ही सुधार कर लें। हम यह इच्छा करें कि हमारा वह विरोधी, जिसे हम शत्रु मानते हैं, उसका

हृदय विशुद्ध हो जाय और वह हमसे प्रेम करने लगे तथा इस इच्छाकी पूर्तिके लिये हम प्रार्थना करने चलें। प्रार्थनाकी यही कुञ्जी अपना लें। अनन्त प्रेमार्णव प्रभुमें मनको तन्मय कर दें। यह भावना करें, विश्वके अणु-अणुमें प्रभुका प्रेम भरा है, अणु-अणुसे दिव्य प्रेम झर रहा है, मेरे हृदयमें प्रेमकी सरिता प्रवाहित हो रही है, मेरे चारों ओर प्रेमका सागर हिलोरें ले रहा है। कोई शब्द सुन पड़े तो भावना करें कि 'ओह ! प्रभुके प्रेमसे सना यह शब्द कितना मधुर है।' कैसा भी स्पर्श प्राप्त हो, सोचें, 'ओह ! कितना प्रेमिल स्पर्श है।' कैसा भी रूप क्यों न दीखे, अनुभव करे कि 'ओह ! प्रभुका प्रेम तो इस रूपके अणु-अणुमें व्याप्त है।' रसनेन्द्रियको जिस रसकी अनुभूति हो, नासिकाका जिस गन्धसे संयोग हो, सोचें—'इस रसमें, इस गन्धमें प्रभुका दिव्य प्रेम ही तो ओतप्रोत है।' फिर हम देखेंगे हमारे उस विरोधीमें, जिसका हम विनाश चाहते थे, प्रेममय प्रभुका चमत्कार प्रकट हो गया है। हमारी प्रार्थना सफल हो गयी है।

इसका निष्कर्ष यह है, पर-हित-विरोधी अपवित्र इच्छामें सुधार करके उसे प्रभुसे जुड़नेलायक पवित्र बनाकर फिर हम प्रार्थना करें।

९—मनसे यह धारणा निकाल दें कि प्रभु हमारी प्रार्थनासे दबकर हमारी इच्छाकी पूर्तिके लिये (जैसे खुशामदसे राजी होकर यहाँका अफसर कर देता है वैसे) अपने परम मङ्गलमय विधानमें हेर-फेर कर देंगे। प्रभुका मङ्गलमय विधान तो निश्चित है; अनादि कालसे निश्चित क्रमसे क्रियाशील है, अनन्त कालतक निश्चित क्रमसे क्रियाशील रहेगा। इसमें हेर-फेर वे प्रायः नहीं करते। हेर-फेर तो हमारी इच्छामें होकर हमारी इच्छाका उसके मङ्गलमय विधानके अनुकूल हो जाना आवश्यक है तभी उस इच्छाकी पूर्ति सम्भव है।

१०—प्रार्थनासे पूर्व हम अपनी इच्छित वस्तुको कुछ देरके लिये प्रसन्नचित्तसे पूर्ण एकाग्रतासे स्मरण करते रहें, फिर अपनी भाषामें

भगवान्‌के तत्सम्बन्धी रूपका निरूपण एवं मनन तथा भावना आरम्भ करें। किसीसे सीखी हुई भाषामें प्रार्थना करनेपर उनमें प्रायः कुछ-न-कुछ कृत्रिमता आ ही जाती है, जो प्रभुसे हृदयका शीघ्र संयोग होनेमें आवरणका-सा काम करने लगती है। इसीलिये अपनी स्वाभाविक भाषाका प्रयोग ही वाञ्छनीय है।

११—हम इच्छा-पूर्तिकी अवधि, पूर्तिके प्रकार प्रभुके लिये निर्धारित न कर दें। हमारी वह इच्छित वस्तु कब मिलेगी, किस प्रकार मिलेगी, ये दोनों बातें हम सर्वथा प्रभुकी मङ्गलमयी इच्छापर ही छोड़ दें।

१२—जहाँतक अधिक-से-अधिक सम्भव हो, हम प्रार्थना करते रहें, पर यह बात प्रभुके अतिरिक्त किसी भी दूसरेपर प्रकट न होने पावे।

उपर्युक्त बारह बातोंपर ध्यान रखकर इच्छितकी प्राप्तिके लिये हम यदि प्रार्थना करते हैं तो तत्काल लाभ हमें मिलता ही है। केवल मनचाही वस्तु हमें मिल जाय, इतना ही नहीं, क्रमशः हमारे हृदय-मन-प्राणमें प्रभुकी दिव्य ज्योति भरने लगती है। ये आलोकित हो उठते हैं। यह आलोक एक दिन हमें अपने अन्दर नित्य अवस्थित प्रभुके मन्दिरका दर्शन करा देता है। बस, यहींसे हमारी सच्ची प्रार्थना—भगवान्‌से भगवान्‌के लिये—भगवत्प्रेमके लिये प्रार्थना आरम्भ होता है। फिर तो हमारे मनकी समस्त वृत्तियाँ सब ओरसे सिमटकर प्रभुके दिव्य मन्दिरकी ओर ही केन्द्रित हो जाती हैं। कदाचित् कोई वृत्ति किसीकी करुण पुकार सुनकर पीछेकी ओर मुड़ती है तो उस समय हम पुकार उठते हैं—

**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥**

'हे नाथ! सभी सुखी हों, सभी रोगरहित हों, सभी कल्याणके दर्शन करें, दुःखका भागी कोई भी न बने।'

★

# प्रभुके साथ सम्पर्क

किसी भी भावसे हम प्रभुकी ओर मुड़ें, हमारा परम कल्याण ही होगा। यदि हम अपने स्वरूपको जानकर प्रभुके साथ हमारा जो सम्बन्ध है, उसे समझकर हम उनकी ओर बढ़ें तो सर्वोत्तम बात है ही; किन्तु यह सब कुछ भी न जानकर किसी सांसारिक दुःखसे ही व्याकुल हुए, उस दुःखसे त्राण पानेकी इच्छासे ही अथवा किसी लौकिक अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिको ही उद्देश्य बनाकर हम उन्हें अपने मनमें स्थान देने लगें, तब भी हम एक-न-एक दिन उनसे अवश्य जा मिलेंगे। इसमें तनिक भी सन्देहके लिये स्थान नहीं है।

आजके युगमें, जब कि हमारा मानसिक धरातल अत्यन्त नीचा हो गया है, अतिशय संकुचित विचारोंसे हमारा मन भरा हुआ है, हम यह आशा करें कि हमको पहले अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाय, प्रभुके साथ अपने सम्बन्धका भान होने लग जाय, तब इसके बाद हम जड जगत्से ऊपर उठकर, निष्काम होकर केवल प्रेमके लिये ही प्रभुसे प्रेम करें, भजनेके लिये ही उन्हें भजें तो यह आशा केवल दुराशामात्र सिद्ध होगी। ऐसा हो जाय, यह कौन नहीं चाहेगा। प्रभुकी उपासनाका, भजनका, प्रार्थनाका आदर्श तो यही है। पर सर्वसाधारणके लिये इस आदर्शका अनुसरण सम्भव नहीं दीखता। कहनेको तो हममें हजारों ऐसे हैं जो आत्मज्ञानी होनेका दम भरते हैं, किन्तु हजारोंमेंसे किसी एकको भी वास्तवमें स्वरूपज्ञान है या नहीं, यह कहना कठिन है; क्योंकि यदि सचमुच ही स्वरूपज्ञान हो गया होता तो हममेंसे प्रायः एक-एककी ऐसी भेड़ियाधसान गति सर्वथा नीचेकी ओर—अधिक-से-अधिक केवल

सांसारिक सुख ही बटोरनेकी ओर प्रवृत्ति कदापि न होती। अपने इस शरीरको आराम देनेके पीछे, अथवा शारीरिक कष्ट उठाकर भी अपने इस कल्पित नामकी झूठी ख्याति समाजमें, देशमें, संसारमें फैलानेके पीछे हम पागल-से नहीं बन गये होते। स्वरूपका ज्ञान होनेपर यह सम्भव ही नहीं कि एक ओर तो हम धर्माचरण करनेका, दान-पुण्य करनेका, देश-सेवा तथा समाज-सेवा करनेका, गरीब-दुःखियोंको सुख पहुँचानेका, तीर्थ-सेवनका और ईश्वर-भक्तिसम्बन्धी विविध कर्मोंका अभिनय करें तथा दूसरी ओर धन बटोरनेके जितने भी अन्यायपूर्ण, पापपूर्ण साधन हैं, उनमें घृणा-लज्जा आदि सर्वथा छोड़कर उन सबको सदा अपनाये रखें। विश्वविद्यालयकी दार्शनिक कक्षाओंमें, वेदान्तकी पाठशालाओंमें आत्माके स्वरूपपर विचार कर लेना, पाठ पढ़ लेना तथा भरी सभामें जनताके समक्ष आत्मज्ञानकी महत्ता और त्यागकी प्रशंसाके पुल बाँधते हुए मनोरञ्जक सुन्दर-से-सुन्दर प्रवचन कर देना सहज है। ऐसा मौखिक स्वरूप-ज्ञान, शास्त्रीय ज्ञान और दिखाऊ वैराग्य तो हममेंसे बहुतोंको है; परन्तु यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्गमें ऐसे ढुलमुल, कथनमात्रके ज्ञान-वैराग्यसे तात्पर्य नहीं है। यहाँ तो उस यथार्थ स्वरूप-ज्ञानसे मतलब है, जिसके आलोकमें बुद्धि यह दृढ़ निश्चय कर लेती है, मन सचमुच यह स्वीकार कर लेता है—

> **जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः।**
> **फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना॥**
> **आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।**
> **अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥**

(श्रीमद्भा० ७।७।१८-१९)

'जन्म, अस्तित्वकी प्रतीति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश—

छः विकार देहके हैं; देहमें ही दीखते हैं; ये आत्मामें नहीं हैं। आत्मासे, हमारे स्वरूपसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे कालभगवान्‌की प्रेरणासे वृक्षोंमें प्रतिवर्ष फल लगते हैं, फलोंके अस्तित्वका अनुभव होता है, वे बढ़ते हैं, पकते हैं, क्षीण होते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं। वृक्ष ज्यों-का-त्यों सदा बना रहता है, वैसे ही जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त छहों विकार देहके ही होते हैं, आत्माके नहीं, आत्मा तो सदा एकरस बना रहता है।* इस प्रकार शरीरके धर्मोंकी दृष्टिसे तो आत्मा विलक्षण है ही, स्वरूपगत धर्मोंके कारण भी वह शरीरसे सर्वथा भिन्न है। आत्मा नित्य है, उत्पत्ति-विनाशरूप दो विकारोंसे रहित है, पर यह शरीर अनित्य है, उत्पत्ति-विनाशयुक्त है; आत्मा अव्यय है, क्षय नामक विकारसे रहित है और शरीर क्षयसे युक्त है। आत्मा अविक्रिय—अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम—इन तीनों विकारोंसे भी सर्वथा रहित है, शरीर इन तीनों विकारोंसे युक्त है; आत्मा शुद्ध है, शरीर मलिन है; आत्मा एक है, शरीर अनेक; आत्मा क्षेत्रज्ञ—ज्ञाता है, शरीर जड क्षेत्र है; आत्मा आश्रय है, शरीर उसके आश्रित है; आत्मा स्वयं-प्रकाश है, शरीर परप्रकाशित है; आत्मा कारण है, शरीर कार्य है; आत्मा व्यापक है, शरीर व्याप्य है; आत्मा असङ्ग है, शरीर संसक्त है और आत्मा निरावरण है एवं शरीर है आवरणरूप।'

—ऐसा निश्चय, ऐसी स्वीकृति हो जानेपर, आत्माके उपर्युक्त बारह उत्कृष्ट लक्षणोंको सचमुच हृदयङ्गम कर लेनेपर अनिवार्य परिणाम यह होता है कि देह आदिमें अज्ञानजनित 'मैं' एवं 'मेरा' जो

---

* वृक्षसे आत्माकी तुलना भी यहाँ आंशिकरूपसे ही समझनी चाहिये; क्योंकि वास्तवमें तो वृक्ष भी षड्विकारयुक्त है और आत्मा सर्वथा विकाररहित। आत्माकी तुलनाके योग्य तो असलमें अन्य कोई वस्तु ही नहीं है।

मिथ्या भाव है, उन्हें हम छोड़ देते हैं, छोड़ ही देना चाहिये—

एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्॥

(श्रीमद्भा० ७।७।२०)

शरीर आदिमेंसे 'मैं', 'मेरा' निकालने भरकी देर है। फिर तो प्रभुके साथ हमारा जो नित्य सम्बन्ध है, उसका ज्ञान भी हमें उसी क्षण स्पष्ट हो जाता है। इसके बाद अनन्त लीलामय प्रभुकी इच्छासे हमारे लिये दो मार्ग बन जाते हैं। या तो प्रभुका चिदानन्दसिन्धु उमड़ता है, उसमें भक्तिरसकी बाढ़ आ जाती है और उसमें डूबकर हम कृतार्थ होते हैं। शास्त्रीय भाषामें इसे भक्तिनिष्ठाका मार्ग कहते हैं। अथवा प्रभुकी चिदानन्द-ज्योति हमारे कण-कणको उद्भासित कर हमें आत्मसात् कर लेती है। उससे एक होकर उसीमें हम सदाके लिये विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञाननिष्ठाका पथ है।

स्वरूपज्ञान, इस ज्ञानका आनुषङ्गिक फल देहादिमें 'मैं', 'मेरा' इन मिथ्या भावोंका नाश, प्रभुके साथ अपने सम्बन्धका स्फुरण, फिर भक्ति या ज्ञानका प्रादुर्भाव—यह एक क्रम हुआ। अब हम सोचकर देखें स्वरूपज्ञानसे आगेकी तो बात दूर, मन-बुद्धिमें सचमुच उतरा हुआ ऐसा स्वरूप-ज्ञान भी हममेंसे कितनोंको है? कहना पड़ेगा कि ऐसे इने-गिने उदाहरण ही मिलेंगे। किन्तु इसे भी जाने दें इतनी गम्भीरतासे इतने सूक्ष्म विचारके उपरान्त आत्मस्वरूपका निश्चय करके उसमें स्थित होनेकी बात छोड़ दें। केवल सरल विश्वास-मूलक स्वरूपज्ञान भी कितनोंको है, यह देखें। हम देह नहीं, प्रभुके सनातन अंश हैं, उनके चिदानन्दसागरकी एक बूँद हैं, उनसे मिलनेका हमारा नित्यसिद्ध अधिकार है। उनसे मिलकर ही हम कृतार्थ हो सकेंगे, इतना-सा ज्ञान भी हममेंसे कितने व्यक्तियोंके पास है? शास्त्रको पढ़कर, अनुभवी

पुरुषोंसे सुनकर इतना-सा विश्वास करनेवाले भी हममें आज कितने हैं ? वर्तमान भूगोलपर हम जितने मनुष्य हैं, उनमें कितने ऐसे हैं, जो प्रभुकी उपासनाको आवश्यक कर्तव्य अनुभव करते हैं ? उपासनाके लिये ही हम उपासना करें, किसी कामनासे प्रेरित होकर नहीं, ऐसी मान्यता, यह सिद्धान्त कितने मनुष्योंका है ? विचार करनेपर यही निर्णय होगा कि ऐसे पुरुषोंकी संख्या बहुत ही कम है। अतएव इस परिस्थितिमें श्रेयस्कर मार्ग यही है कि जिस किसी भी भावसे हो, एक बार हम प्रभुकी ओर झुकें। एक बार उन्हें अपने मनमें स्थान दें तो सही। किसी भी निमित्तसे यदि वे एक बार हमारे मनमें आ गये तो अपने आलोककी अमिट छाप तो वे छोड़ ही जायँगे ! और क्या पता उनकी यही क्षुद्र-सी ज्योति किसी अनुकूल वातावरणका आधार पाकर ऐसी चमक उठे कि हमारा सारा अन्धकार सदाके लिये दूर हो जाय, हम अज्ञान-निद्रासे जग उठें तथा जीवन कुछ-से-कुछ हो जाय।

आज सर्वत्र दुःख-दैन्यकी भरमार है। लाखोंमें, शायद ही एक व्यक्ति ऐसा मिलेगा, जो छातीपर हाथ रखकर यह कह सके कि मुझे कोई दुःख नहीं। अन्यथा कुछ-न-कुछ दुःख सबके पीछे लगा है। शरीर व्याधिसे ग्रस्त है, पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धवमेंसे कोई-न-कोई मनके प्रतिकूल हैं, धनका अभाव है, सम्मान नहीं मिल रहा है। हमारा देश दरिद्र है, जगत्‌का सुधार कैसे हो—ऐसे न जाने कितने कारण हैं कि जो हमें दुःखी बनाये रखते हैं। इन दुःखोंसे छूटनेके लिये हम कम प्रयास करते हों, यह बात भी नहीं। अपनी जितनी शक्ति है, सब खर्च कर देते हैं। फिर भी दुःखोंसे मुक्त नहीं हो पाते। कहीं एक मिटता है, तो दो नये खड़े हो जाते ! अब कदाचित् इन दुःखोंसे त्राण पानेके लिये भी हम प्रभुकी ओर मुड़ सकते, तो भी निहाल हो जाते। पर यह भी हम नहीं करते। शरीर रुग्ण होनेपर डाक्टर-वैद्योंके पीछे अनाप-शनाप

धन खर्च करेंगे, उनकी बतायी हुई ओषधियोंका आँख मूँदकर सेवन कर लेंगे, किन्तु एक बारके लिये भी यह मनमें नहीं आता कि सच्चे मनसे सरल विश्वासके साथ उन प्रभुको तो पुकार कर देखें कि जिन प्रभुके अनन्त ज्ञानसागरकी एक बूँदसे विश्वमें ज्ञानका संचार होता है; जगत्में जितने डाक्टर-वैद्य थे, हैं और होंगे, उन सबमें रोग-निदान करनेका समस्त ज्ञान, जिनके उस बिन्दुमात्र ज्ञानसे ही आता है, जिनकी अपरिसीम शक्तिके एक क्षुद्र कणसे ही जगत्की समस्त ओषधियोंमें रोग-नाश करनेकी शक्ति आती है, उन प्रभुके प्रति तो हम विश्वास नहीं कर पाते और डाक्टर-वैद्योंपर, ओषधियोंपर विश्वास कर लेते हैं। कई बार तो हम अपने इस अविश्वासको भ्रमवश अपनी निष्कामताका नाम दे देते हैं, कह बैठते हैं कि 'प्रभुसे रोग-मुक्तिके लिये प्रार्थना क्या करें, उसके लिये तो प्रभुने ओषधि-सेवनका विधान किया ही है।' बात भी ठीक है। पर यह बात तो उन्हें शोभा देती है कि जिनका जीवन सचमुच सर्वथा प्रभुको समर्पित हो चुका है, जिनके व्यावहारिक जीवनमें अनाचार-दुराचारकी छाया भी नहीं है, जो कभी किसी भी परिस्थितिमें प्रभुसे कुछ भी याचना नहीं करते। किन्तु जब हमारा जीवन पापोंसे पूर्ण है, पद-पदपर हम अपने व्यवहारमें अवैध उपायोंका आश्रय ग्रहण करते हैं, प्रभुकी बाँधी मर्यादाको तोड़ते हैं, तब यह आदर्शवाद हमारे लिये क्या मूल्य रखेगा ? जो हो, हमारा अविश्वास ही हमें प्रभुके सम्मुख जानेसे रोकता है। इसी प्रकार धनके लिये, मानके लिये, अपनी अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करनेके लिये हम जगत्की खाक छान डालेंगे, जो कभी नहीं करना चाहिये, यह सब करनेमें तनिक भी संकुचित नहीं होंगे, बुरे-से-बुरे अनाचार और निषिद्ध आचरणका आश्रय ले लेंगे; पर यह सारा जगत् जिनके अनन्त वैभवके किसी क्षुद्र अंशकी छायामात्र है, उन प्रभुके द्वारपर जानेका

विचारतक मनमें उदय नहीं होगा। इसे हम इस युगका अभिशाप कहें या अपनी बुद्धिकी जड़ता! कुछ भी कहें—आज हमारी दशा तो यही हो रही है!

अब जैसे भी हो, इस पतनके गड्ढेसे हमें ऊपर उठना है। जितना शीघ्र चेत जायँ उतना ही कल्याणकर है। अन्यथा हमारे दुःख घटनेके बदले दिनोंदिन अधिकाधिक बढ़ते ही जायँगे। जबतक निरामय प्रभुकी शक्तिको हम स्पर्श नहीं करेंगे, तबतक हमारे रोग मिटनेके ही नहीं हैं, भले ही हजारों अस्पताल खुल जायँ, सैकड़ों नवीन ओषधियोंका आविष्कार हो जाय। जबतक हमारा मन प्रभुकी एकरस अखण्ड शान्तिको किसी भी अंशमें छूने नहीं लगेगा, तबतक यहाँके समस्त साधन हमारे हृदयकी ज्वालाको बुझानेमें व्यर्थ ही सिद्ध होंगे।

ओषधियोंका, चिकित्साका, जागतिक साधनोंका विरोध नहीं है; क्योंकि वे भी तो भगवान्‌से ही आये हैं। उनकी भी अपने स्थानपर उपयोगिता है ही। उनकी सहायता लेनी चाहिये, किन्तु उसीके साथ-साथ हम ऐसी चिकित्सा क्यों न करें जो यहाँके समस्त रोगोंपर, दुःखोंपर तो अव्यर्थ सिद्ध हो ही, लगे हाथ हमारे भवरोगको भी शान्त कर दे, अनादिकालसे हम जो जल रहे हैं, उस जलनको भी मिटाकर हमें स्थायी, शाश्वती शान्ति प्रदान कर दे। हमारे ज्योतिहीन नेत्रोंमें श्रद्धाकी ज्योति भर दे, जिससे हमारे इस जीवनमें तथा जीवनके उस पार भी—सर्वत्र सदाके लिये उजाला हो जाय। सचमुच ही यदि रोगों-दुःखोंसे त्राण पानेके उद्देश्यसे ही ऐसे प्रत्येक अवसरपर ही यदि हम प्रभुको पुकारें, सरल विश्वासके साथ, एकान्त मनसे उनकी सहायताका आवाहन करें तो हमारा यहाँका रोग-दुःख तो मिट जाय, बिना ओषधि किये, बिना कुछ प्रयत्न किये ही मिट जाय, साथ ही हमारे अन्दर प्रभुके

***

प्रति श्रद्धाका भी उन्मेष होने लगे और यह श्रद्धा निरन्तर बढ़ती ही जाय। इतना ही नहीं, अन्तमें कभी किसी दिन अनादि अज्ञानसे मुँदी हुई हमारी आँखें भी खुल जायँ, मोह-निद्रा टूटकर हमें यह अनुभव होने लगे कि यहाँ तो जगत् नामक कोई वस्तु असलमें है ही नहीं, हैं केवल एकमात्र प्रभु और है उनकी आनन्दमयी लीला तथा यह अनुभव करके हम सदाके लिये सुखी हो जायँ।

आजसे पचास वर्ष पहलेकी एक सच्ची घटना है। १९३४ ईस्वीकी बात है। पोर्ट्स्स माउथ नगरके मिस्टर आल्फ्रेड जी-सरले(Mr. Alfred G-Searle) नामक सज्जनकी आँखोंमें ग्लूकोमा (Glaucoma) नामक रोग हो गया। आँखका यह एक भयङ्कर रोग है, जो सहजमें अच्छा नहीं होता। आँखके सर्जनने उन्हें बताया कि यदि तुरन्त चीरा लगाया जाय तो शायद थोड़ी-सी रोशनी बच सकती है, पर यदि चीरा लगनेमें तनिक भी देर की गयी तो आप सर्वथा अन्धे हो जायँगे। इतना ही नहीं, इतनी भयङ्कर पीड़ा शुरू हो जायगी कि आँखोंको निकाल देनेपर ही वह शान्त होगी। किंतु मिस्टर सरलेने चीरा लगवाना स्वीकार नहीं किया। वे प्रभुके दृढ़-विश्वासी थे, उनका विश्वास था कि प्रभु मेरी आँखोंको बिना चीरा लगाये ही अवश्य ठीक कर देंगे। सर्जनके निदानमें तो भूलकी कोई सम्भावना थी ही नहीं। ग्लूकोमा रोगके लक्षण इतने स्पष्ट होते हैं कि आँखका साधारण डाक्टर भी उसे देखकर निश्चित रूपसे निदान कर सकता है। यहाँ भूलकी, मतभेदकी जगह नहीं रहती। अतः मिस्टर सरलेके लिये सर्जनके निदानपर सन्देह करनेका कोई कारण न था। रोगकी भयङ्करताको वे समझ गये थे। फिर भी उनका विश्वास प्रभुपरसे हिला नहीं और सर्जनसे यह कहकर कि आगामी शुक्रवारको आपसे मिलूँगा—वे लौट आये। जो हो, गुरुवारके प्रातःकालतक तो आँखोंमें कोई सुधार नहीं हुआ, किंतु मिस्टर सरलेके विश्वासमें तनिक

भी शिथिलता नहीं आयी। 'मेरे नेत्रोंकी ज्योति पुनः लौट ही आयगी, प्रभु मुझे निराश नहीं करेंगे।' उनकी यह भावना ज्यों-की-त्यों बनी रही। आखिर प्रभुके प्रति ऐसे विश्वासका जो फल होना चाहिये वह हुआ ही। गुरुवारकी रात ढलते-न-ढलते उनकी आँख सर्वथा चमत्कारपूर्ण ढंगसे बिल्कुल ठीक हो गयी। नेत्रोंकी पूरी ज्योति लौट आयी। यहाँतक कि दिवारपर टँगे कलेण्डरके बहुत छोटे अक्षरोंको भी वे स्पष्ट पढ़ सकते थे।

जिस प्रकार मिस्टर सरलेकी आँखें बिना चीरा लगाये ही, बिना किसी उपचारके ही क्षणोंमें प्रभुने ठीक कर दीं, वैसे ही वे औरोंकी आँखें ठीक कर सकते हैं, किसीका भयङ्कर कैन्सर मिटा सकते हैं, कुष्ठ दूर कर सकते हैं, यक्ष्मा आराम कर सकते हैं, ज्वरकी ज्वाला शान्त कर सकते हैं, संग्रहणी हर ले सकते हैं, जितने रोग हैं, सबसे मुक्त कर सकते हैं। कर तो सकते हैं, पर करते नहीं, यह बात भी नहीं। जहाँ विश्वासपूर्वक कोई उनसे यह करवाना चाहता है वहाँ अवश्य-अवश्य वे करते हैं। ऐसी घटनाएँ एक नहीं, अनेक—ऊपर वर्णित घटनाकी अपेक्षा भी बहुत अधिक चमत्कारपूर्ण एवं विस्मयमें डाल देनेवाली घटनाएँ आज भी—जहाँ प्रभुके प्रति संशयहीन विश्वास है वहाँ घटित होती हैं। यह बात दूसरी है कि हमारी श्रद्धाहीन आँखोंके सामने वे व्यक्त न हों, हमें सुननेतकको भी वे न मिलें। हमें अवकाश ही कहाँ है कि ऐसी घटनाओंको ढूँढ़ें, देखें, पढ़ें, सुनें और पक्ष छोड़कर उनपर विचार करें, मनन करें! कदाचित् कभी कोई सुन भी लेते हैं तो उसे अपने मनोविज्ञानके अधूरे ज्ञानपर कसकर 'यह तो इच्छाशक्ति (Will Power) का चमत्कार है' यह फतवा दे बैठते हैं। इस इच्छाशक्तिके भी मूल उद्गम प्रभु, प्रभुकी अपरिसीम शक्ति, उनकी शक्तिके अगणित

असंख्य चमत्कारोंकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। जो हो, यहाँ तो तात्पर्य इतनेसे ही है कि रोग-दुःखसे त्राण पानेके लिये यदि हम प्रभुको पुकारें तो वे अवश्य सुनते हैं। इस निमित्तसे भी यदि हम उनकी ओर ताकें, उन्हें अपने मनमें उतरने दें तो हमारा बड़ा कल्याण हो। अन्य समस्त चिकित्सा, उपचार जहाँ व्यर्थ हो जाते हैं, वहाँ प्रभुकी सहायता चमत्कार उत्पन्न कर देती है। प्रभुकी यह सहायता हमें केवल इच्छित फल देकर ही समाप्त नहीं हो जाती है, हमारे अन्दर एक अमिट संस्मरण छोड़ जाती है। यह संस्मरण हमारे परम कल्याणका बीज बन जाता है। अनुकूल साधन मिलते जायँ तो यह बीज शीघ्र अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित होकर फल देने लग जाय। पर हम कहीं प्रभुके इस उपकारको भूल जायँ—और अधिकांशमें यही होता भी है—तो भी इस बीजका नाश नहीं होता, यह भीतर-ही-भीतर हमारे अन्दर कुछ-न-कुछ काम करता ही रहेगा, कम-से-कम इतना काम तो यह करेगा ही कि पुनः अन्य दुःख-विपत्तिके अवसरपर प्रभुकी सहायता माँगनेके लिये स्फुरणा उत्पन्न कर देगा। यह क्या कम है! पथ भूले हुएको गन्तव्य पथका सङ्केत कर देना कितनी बड़ी सहायता है!

जैसे रोगसे छूटनेकी बात है वैसे ही अन्य अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिये भी हम प्रभुकी सहायता लेकर अपने कल्याणका पथ विस्तृत कर सकते हैं। यह स्मरण रखनेकी बात है कि अतिशय पवित्र परम उत्कृष्ट ऊँचा-से-ऊँचा भाव रखनेवाला एक मनुष्य—

**न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।**
**आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥**

(श्रीमद्भा० ९। २१। १२)

'मैं प्रभुसे अष्ट सिद्धियोंसे युक्त परम गति नहीं चाहता, वे मुझे

त्रिविध दुःखसे मुक्त कर दें, यह कामना भी उनसे नहीं करता। मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि विश्वके समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित हो जाऊँ और फिर उनका सारा दुःख मैं ही भोगूँ, सबका दुःख-भार मुझपर आ जाय, जिससे और सभी दुःखसे त्राण पा जायँ, कहीं किसीको दुःख रहे ही नहीं।'

—इस प्रकारका परम शुभ, आदर्श विचार रखनेवाला व्यक्ति प्रभुके लिये जितना स्नेहपात्र है, उतना ही स्नेहपात्र वह व्यक्ति है जो उनसे विश्वासपूर्वक यह माँग रहा है—'नाथ! अमुक आफिसमें मुझे सौ रुपयेवाला स्थान दिला दो।' दोनोंपर ही प्रभुकी ओरसे तो अपरिसीम स्नेहकी वर्षा हो रही है। प्रभुके लिये यह कदापि सम्भव नहीं कि पहलेका सम्मान करें और दूसरेकी उपेक्षा। पहला ऊँचा और दूसरा क्षुद्र—यह अन्तर तो हमारी दृष्टिमें है। प्रभुकी दृष्टिमें तो दोनों ही उनके हृदयके टुकड़े हैं, दोनोंके रूपमें वे-ही-वे हैं। हाँ, ऐसा तो कह सकते हैं कि पहला तो प्रभुकी स्नेहधारामें बहकर अपनी यात्रा समाप्त करके प्रभुके आनन्दरससिन्धुमें निमग्न होनेके लिये तटके अत्यन्त समीप पहुँचा हुआ उनका प्रौढ़ पुत्र है एवं दूसरा उनकी स्नेहभरी गोदमें खेलनेवाला अबोध शिशु है, जो उनकी ठोड़ी पकड़कर उनसे मिट्टीका एक खिलौना माँग रहा है, खिलौनेके लिये मचला हुआ है, खिलौना न पाकर दुःखी हो रहा है। भोला शिशु जो ठहरा, प्रभुके अनन्त पारावारविहीन आनन्द-रस-सागरकी बात जानतातक नहीं, अभी तो उसकी यात्रा आरम्भ हुई है। अस्तु, प्रभुसे अपने अभीष्टकी याचना करनेमें हमें तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिये। इस निमित्तसे ही प्रभुसे जो हमारा सम्बन्ध जुड़ेगा, वह हमारे लिये अमूल्य निधि है, अवश्य ही इसमें दो बातोंकी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। एक तो हमारी माँगी हुई वस्तु ऐसी न हो, जिसमें जगत्‌के किसी भी प्राणीके

लिये अमङ्गल—अहितकी भावना सनी हो, क्योंकि ऐसी याचनाका उत्तर प्रभुकी ओरसे निश्चित रूपसे नहीं ही मिलता। तथा दूसरी बात यह है कि मनमें 'प्रभु देंगे कि नहीं देंगे' ऐसा संशय तनिक-सा भी क्षणमात्रके लिये भी भूलकर भी कभी न आने दें। 'अवश्य देंगे' यह दृढ़ विश्वास रखकर हम उनसे माँगें। फिर दो बातोंमें एक बात अवश्य होगी। या तो प्रभु वह वस्तु हमें दे देंगे, या हमारे मनसे उस वस्तुके पानेकी इच्छाको सर्वथा मिटाकर हमें शान्ति दे देंगे। इतना ही करके वे चुप बैठ जायँगे, सो बात नहीं, इसके साथ ही वे कुछ ऐसी चीज भी दे डालेंगे, जो हमारी दरिद्रताको सदाके लिये जला देगी। भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासका यह अमर सन्देश अपने हृत्पटपर स्वर्णाक्षरोंमें हम लिख लें, यह कभी मिथ्या नहीं होगा—

**जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं,**
**जियँ जाचिअ जानकि-जानहि रे।**
**जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,**
**जो जारति जोर जहानहि रे॥**

'जगत्‌में किसीसे मत माँगो। यदि माँगना ही है तो मन-ही-मन प्रभुसे माँगो। प्रभुसे माँगते ही याचकता (दरिद्रता—कामना) जो सारे संसारको बरबस जला रही है, स्वयं जल जायगी।'

सचमुच प्रभुसे माँगनेवालेका मँगतापन सदाके लिये मिट ही जाता है—

**तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।**

यह ठीक है कि अहितकर वस्तु माँगनेपर भी प्रभु नहीं देते। स्नेहमयी जननी भी तो अपने भोले बच्चेके माँगनेपर उसके हाथमें चमकती हुई छूरी नहीं देती। किन्तु कहीं बच्चा मचल जाय, अड़ जाय, किसी भी फुसलावेमें न आवे तो माँ छूरी हाथमें दे देती है, पर हाथको

पकड़े रहती है कि कहीं काट न ले। फिर जगत्‌की अनन्त माताओंके हृदयमें अनादिकालसे सञ्चरित वात्सल्यस्नेह जिस स्नेह-रसके अनन्त समुद्र प्रभुसे आता है, भूत, वर्तमान, भविष्यकी सब माताओंका पुञ्जीभूत, एकत्रित वात्सल्य जिनके स्नेहकी एक बूँदके भी बराबर नहीं ठहरता, वे प्रभु क्या ऐसा नहीं कर सकते ? अवश्य कर सकते हैं। किसी अबोध, पर उनके सर्वथा परायण हुए परम विश्वासी शिशुके मचल जानेपर, अड़ जानेपर हालाहल विषको भ्रमवश अमृत मानकर उसे ही पिला देनेके लिये हठ कर लेनेपर प्रभु भी ऐसा कर सकते हैं। यहाँकी मातामें तो शक्ति-सामर्थ्य सीमित है, वह किसी अंशतक ही अपने लाड़ले शिशुका हठ निभा सकती है। पर प्रभुकी सामर्थ्य तो सर्वथा अनन्त, अपरिसीम है। वे सर्वभवनसमर्थ हैं, अघटन-घटना उनके लिये नित्य हँसी-खेल है। वे सचमुच लोकदृष्टिमें हालाहल विषरूप वस्तु दे सकते हैं, बाह्यदृष्टिमें वह वस्तु ज्यों-की-त्यों विषरूप ही दीखेगी, पर वह उनके जनके लिये, जिसे उन्होंने दी है या देंगे, उसके लिये परम अमृत बन जायगी, उसे अमर कर देगी। भले ही प्रभुका यह अमित प्रभाव हमारी तर्कशील बुद्धिमें स्थान न पावे, हम इसपर विश्वास न कर सकें, यह बात दूसरी है। अथवा—'प्रभुके भक्तमें हठ हो ही नहीं सकता, प्रभुका भक्त तो अपनी इच्छा प्रभुकी इच्छामें ही मिला देता है, भक्तकी बुद्धि परम शुद्ध होती है, वह अपने लिये किसी भी अहितकर वस्तुकी याचना कर ही नहीं सकता'—इस प्रकार आदर्श भक्तोंकी बात कहकर हम इन बातोंका खण्डन भले कर दें या ऐसा न करके अपने पाण्डित्यके बलसे 'सर्वसमर्थता' शब्दकी व्याख्या करते हुए प्रभुकी शक्ति-सामर्थ्यकी अपनी मनमानी एक सीमा निर्धारित कर दें तथा प्रमाणमें कुछ ऐसे युक्तिपूर्ण वाक्योंकी रचना

कर लें कि उनके उत्तरमें बाध्य होकर किसीको कहना ही पड़े कि प्रभु यह तो नहीं कर सकते। पर इससे न तो प्रभुका अमित प्रभाव ही कम होता है, न प्रभुके साम्राज्यका यह अनन्त वैचित्र्य ही मिटता है और न यह सीमा ही बँधती है कि विश्वाससे यह तो हो सकता है, यह नहीं हो सकता।' जो सत्य है, वह सत्य ही रहेगा। हमारी इच्छा, हम उसे मानें, ढूँढ़ें, पहचानें, परीक्षा करें अथवा उसकी ओरसे मुँह मोड़े रहें। किन्तु बुद्धिमानी इसीमें है कि दुराग्रह त्यागकर हम उसकी एक बार कम-से-कम परीक्षा तो अवश्य करें। यद्यपि प्रभु एवं प्रभुकी शक्ति-सामर्थ्यसम्बन्धी बातें परम सत्य होनेपर भी व्यक्त होनेके लिये श्रद्धाकी अपेक्षा अवश्य रखती हैं, किन्तु पक्षपातशून्य परीक्षकको उनका आभास अवश्य मिल जाता है। हम सर्वसाधारणके लिये तो—यदि प्रभुके अस्तित्वमें थोड़ा भी विश्वास है तब—यही परम कल्याणकारी साधन है कि प्रभुपर विश्वास और भी दृढ़ करते हुए उनकी सहायता हम जिस-किसी निमित्तसे भी लेने लग जायँ। इसमें लाभ-ही-लाभ है।

ऐसा भी कहा जाता है कि 'प्रभुकी सकाम उपासना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वास्तवमें सच्ची श्रद्धा तो होती नहीं और इस कारण इच्छित फल नहीं मिलता, जिससे उलटे और अश्रद्धा हो जाती है।' बात बहुत ठीक है। ऐसा होता है, पर हम यह सोचें कि हमारा इसमें बिगड़ा क्या ? पहले भी श्रद्धा नहीं थी, श्रद्धाकी बिलकुल झूठी नकल थी, श्रद्धा होनेका भ्रम था; क्योंकि सच्ची श्रद्धा होनेपर यह असम्भव है कि प्रभुकी ओरसे प्रत्युत्तर न मिले, अवश्य-अवश्य उत्तर मिलेगा ही। हमें कोई उत्तर नहीं मिला, यही इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि हमारा विश्वास प्रभुपर नहीं था, नहीं है। अब इच्छित उत्तर न मिलनेपर यदि भ्रम मिटकर हमारे मनका सच्चा रूप प्रकट हो गया तो इसमें लाभ हुआ

या हानि हुई ? हमारी स्थिति जो पहले थी वही अब है, अधिक लाभ यह हुआ कि श्रद्धाका दम्भ अब हम नहीं करेंगे। साथ ही एक बहुत बड़ा लाभ हमारी जानकारीमें न आकर ही और हो गया। उतने मास, उतने दिन या उतने घण्टे जो प्रभुके सम्पर्कमें बीते, इस निमित्तसे हमने प्रभुको इतने समयके लिये जो अपने मनमें बसाया, यह इतनी मूल्यवान् सम्पत्ति एकत्र हो गयी कि उसकी तुलना नश्वर जगत्के किसी भी पदार्थसे सम्भव ही नहीं। इतना ही नहीं, सचमुच हमारे अन्दर सच्ची श्रद्धाके बीज भी बिखेर दिये गये। उन बीजोंकी क्रिया बढ़नेपर अश्रद्धाका हमारा यह आवरण भी नष्ट हो जायगा। फिर हम बाहर-भीतर समान बन जायँगे। अतः ऐसी अश्रद्धा भी होनेकी सम्भावना हो तो यह भी वरण करनेयोग्य है, प्रभुसे न जुड़नेकी अपेक्षा उनसे जुड़कर ऐसी अश्रद्धाको मोल ले लेना भी बहुत ही मङ्गलकारक है। जैसे भी हो तथा परिणाममें कुछ भी हाथ लगे, किसी निमित्तसे हम प्रभुसे जुड़ें, यही सार बात है।

अन्तमें एक बात और रही, जिसका जानना आवश्यक है। रोग-दुःखसे त्राण पानेके लिये अथवा अपनी अभिलषित वस्तुकी प्राप्तिके लिये यदि हम प्रभुकी सहायता लें तो उसका रूप क्या होना चाहिये, उसका ढंग क्या होना चाहिये ? उसका प्रकार क्या है ? तो उसके लिये अत्यन्त संक्षेपमें तथा सरलतासे समझमें आनेवाली बातें ये हैं—

१—कल्पना करें, शरीरमें कोई व्याधि हो गयी, गठियाकी पीड़ासे प्राण व्याकुल हैं, इससे मुक्त होनेके लिये हम प्रभुसे सहायता चाहते हैं। उसके लिये हमें चाहिये कि अपनी सारी शक्ति बटोरकर उनको एक बार पीड़ासे हटाकर हम ऐसी भावना करें—'हमारे भीतर-बाहर, दाहिने-बायें, आगे-पीछे, नीचे-ऊपर हमारे अणु-अणुमें

आनन्दमय प्रभु भरे हुए हैं, यहाँ सर्वत्र प्रभुका अनन्त असीम अपार आनन्द भरा है। प्रभुकी अखण्ड अपरिसीम शान्ति सर्वत्र फैली हुई है, हम प्रभुके उस आनन्दमें, उस शान्तिमें ही डूबे हुए हैं। प्रभुके आनन्दका, उनकी शान्तिका समुद्र लहरा रहा है, हमारा अणु-अणु अपार अनन्त असीम आनन्दसे, शान्तिसे भर गया है……।' इस प्रकारकी भावनामें मनको सर्वथा डुबो देनेका प्रयास करें। यह नहीं कि पीड़ाको याद कर-करके प्रभुको बार-बार पीड़ाकी स्मृति दिलावें। प्रभु पहलेसे जानते हैं कि हमारी इच्छा क्या है। अब यदि हम सचमुच इस भावनासे मनको एक बार पूरा-पूरा भर सकें, उस मनको जिसमें यह विश्वास पहलेसे ही भरा हो कि प्रभु हमारी गठियाकी पीड़ाको निश्चय मिटा देंगे तो सच मानें, भावना टूटते-न-टूटते गठियाकी पीड़ा भी न जाने कहाँ चली जायगी और हमारा रोम-रोम प्रभुके प्रति कृतज्ञतासे भर उठेगा। दृढ़ विश्वास एवं मनकी एकाग्रता—दो ही बातें अपेक्षित हैं। ये तो होनी ही चाहिये। इसमें भी पीड़ावश एकाग्रतामें त्रुटि आवे तो वह भी क्षम्य है। पर विश्वास शिथिल न हो यह अत्यन्त आवश्यक बात है। विश्वासकी कमी ही फल-उत्पादनमें विलम्ब करती है। अतः एक बारकी भावनामें पीड़ा न मिटे तो विश्वासको और भी सुदृढ़ बनाकर यह भावना बार-बार करते ही जायँ। विश्वासका काँटा जहाँ अपेक्षित स्थानपर आया कि निश्चय ही या तो प्रभु हमारी पीड़ा हर लेंगे या पीड़ा मिटानेकी वासना हरकर हमारे अन्दर एक अद्भुत शान्ति, सहिष्णुताका संचार कर देंगे। फिर पीड़ाका अनुभव भले हो, पर मन सर्वथा अनुद्विग्न एवं शान्त होकर एक अनिर्वचनीय आनन्दसे भर उठेगा। यह आनन्द कैसा होता है, इसे हम केवल अनुभव कर पायेंगे, दूसरेको बता सकें, यह सम्भव नहीं।

२—किसी अभिलषित वस्तुकी प्राप्तिका उद्देश्य होनेपर एक बार प्रभुसे अपनी इच्छा निवेदन कर दें। प्रभु जानते तो हैं ही, पर अपने सन्तोषके लिये ही ऐसा कर लें। फिर निश्चिन्त हो जायँ—इस भावनासे कि प्रभु हमारी इस इच्छाको अवश्य-अवश्य पूरी करेंगे ही। इसके बाद प्रभुके अनन्त वैभवमय स्वरूपमें अपने मनको डुबो दें, डुबाये रखें। हठात् एक दिन देख पायेंगे कि यह मनोरथ पूर्ण हो चुका है। अथवा यह प्रत्यक्ष-सा अनुभव हो जायगा कि अमुक समयपर वह वस्तु हमें मिल जायगी अथवा यह होगा कि मनमें उस वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा ही सर्वथा मिट जायगी।

३—दुःखमें पड़े हुए अपने किसी स्वजन-सम्बन्धी या मित्रके लिये भी हम प्रभुकी सहायताका आवाहन उपर्युक्त भावनाकी प्रक्रियासे कर सकते हैं। ऐसा करना अपने उस सम्बन्धी-मित्रके प्रति हमारी इतनी अद्भुत चमत्कारपूर्ण सेवा होगी कि जिसकी कल्पना भी अभी हम नहीं कर सकते। अपने जिस मित्र-स्वजनके लिये प्रभुकी सहायता अपेक्षित हो, उसकी मानसिक मूर्ति अपने सामने हम खड़ी कर लें। मन-ही-मन उसे देखते हुए हम यह भावना आरम्भ करें—'यहाँ इसके भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें सर्वत्र प्रभु भरे हैं, उनका आनन्द, उनकी शान्ति भरी है…।' ऊपर वर्णित भावनाको ही अपने मित्रकी उस मानसिक मूर्तिमें भर दें। यहाँतक कि मूर्तिका अस्तित्व, स्मृति तो विलुप्त हो जाय और वहाँ बच रहें केवल प्रभु, उनका अखण्ड और अनन्त आनन्द, उनकी शाश्वती शान्ति। हमें पीछे यह जानकर विस्मय होगा कि हमारे उस मित्रके दुःखका अत्यन्त चमत्कारपूर्ण ढंगसे अवसान हो गया है, उसकी परिस्थिति अचानक अजीब ढंगसे सुधर गयी है अथवा बाह्य परिस्थिति तो ज्यों-की-त्यों है, पर मित्रके स्वभावमें, मनमें कुछ

जादू-सा हो गया है; उसकी चिन्ता, उद्विग्नता मिट गयी है और वह एक अद्भुत शान्तिका अनुभव करने लगा है। अवश्य ही इस प्रक्रियामें भी सफलता निर्भर करती है इसी बातपर कि (१) स्वयं हमारे मनमें प्रभुके प्रति कितनी, कैसी श्रद्धा है और (२) सहायताका आवाहन करते समय मनकी एकाग्रता कैसी—किस जातिकी थी।

बस, सहायताके आवाहनका प्रकार उपर्युक्त दो बातोंमें ही प्रायः आ जाता है। इतना ही बहुत है।

इसमें किसीका मतभेद हो ही नहीं सकता कि प्रभुके साथ सर्वथा निष्कामतापूर्ण सम्बन्ध ही उपासनाका पवित्र आदर्श है। प्रभुसे कुछ भी माँगना वास्तवमें है अज्ञता ही। हमारे लिये जो भी आवश्यक है, उसे प्रभु हमारे बिना माँगे ही आगे-से-आगे देते रहते हैं, देते रहेंगे। परम स्नेहमयी जननीकी भाँति हमारे लिये सब कुछ वे पहलेसे ही सुव्यवस्थित कर रखते हैं। उनसे हम क्या माँगें, क्यों माँगें ? यह बुद्धि भी हमारे अन्दर कहाँ कि हम निर्णय कर लें—हमें क्या चाहिये और क्या नहीं चाहिये। किन्तु जब हमें अभावकी अनुभूति हो रही है और प्रभुसे विमुख होकर हम भटक रहे हैं, तब इस परिस्थितिमें जो भी निमित्त हमें प्रभुसे जोड़ सके, उसको अवश्य-अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिये। यह भी सन्तोंका अनुमोदित मत है, इसमें भी सभी एकमत हैं। हमें भी यह अभिप्रेत होना ही चाहिये कि जैसे भी हो हमारा मुख तो प्रभुकी ओर हो जाय। फिर—

**सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।**
**जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥**

═══ ★ ═══

# इच्छाशक्ति या प्रभुकृपापर विश्वास

आधुनिक युगमें इच्छाशक्तिको बहुत महत्त्व दिया जा रहा है। उचित भी है। यह नितान्त सत्य है कि हमारी इच्छाशक्तिमें बहुत बल है। इस बलका उपयोग करके हम अपनी गिरी दशासे बहुत कुछ ऊपर उठ सकते हैं। पर जबतक इस शक्तिका प्रवाह प्रभुकी ओर नहीं होता, तबतक इसके द्वारा भले ही हम कुछ समयके लिये ऊँचे स्तरपर आ जायँ; किन्तु वह स्थिति स्थायी नहीं हो सकेगी। निरन्तर हमारे लिये पतनका भय लगा ही रहेगा और कुसमयमें—जिस समय हमें अन्य दुर्बलताएँ आकर घेरेंगी, उस समय—हम अपनी प्राप्त स्थितिसे भी नीचे गिर सकते हैं। कल्पना करें—'हमारी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति किसी कुमार्गकी ओर हुई। अब यदि वास्तवमें हम यह दृढ़ इच्छा करें, पूरे मनोयोगसे यह चाहें कि नहीं, हम अपनी इन्द्रियोंको कुमार्गमें नहीं जाने देंगे, हमारी इन्द्रियाँ कुमार्गमें नहीं जा सकतीं, इस प्रकार दृढ़ सङ्कल्प करके इन्द्रियोंको कुपथसे हम पूरी तत्परतापूर्वक हटाना चाहें, हटा दें तो इन्द्रियोंमें सचमुच यह शक्ति नहीं है कि हमारी आज्ञाका, दृढ़ सङ्कल्पका वे विरोध कर सकें। उन्हें लौटना पड़ेगा, वे एक बार निश्चय लौट आयेंगी। पर इतने मात्रसे ही हमारे पतनका भय चला गया हो, इन्द्रियाँ फिर उस ओर नहीं ही जायँगी, यह सुनिश्चित हो गया हो; सो बात नहीं है। पुनः जहाँ वैसा कोई अवसर आयेगा, हम असावधान होंगे, अपनी इच्छाशक्तिपर नियन्त्रण खो बैठे होंगे, कुछ क्षणों पहले हमने वैसे ही मिलते-जुलते बुरे भावोंको अपनी दुर्बलतावश मनमें स्थान दे रखा होगा कि बस, उस ओरसे लौटी हुई वे इन्द्रियाँ उछलेंगी

और बाँध तोड़कर वैसे ही असत्पथकी ओर और भी प्रबल वेगसे भागने लगेंगी। अतः स्थितिको स्थायी बनाये रखनेके लिये यह भी परम आवश्यक है कि जैसे अपने अन्दरकी इच्छाशक्तिका प्रयोग करके, दृढ़ सङ्कल्पके द्वारा हमने इन्द्रियोंको कुमार्गकी ओरसे हटाया, निषेधात्मक प्रयोगसे उन्हें शान्त किया, वैसे ही उतनी ही दृढ़तासे पुनः उसी इच्छाशक्तिका आश्रय लेकर हम उन्हें प्रभुकी ओर प्रवृत्त करें, प्रभुकी ओर उनकी अविराम गति कर दें, निर्माणात्मक प्रयोगके द्वारा हम उन्हें नित्य, सत्य, अखण्ड, अचल, परम मङ्गलमय प्रभुसे जोड़ दें। ऐसा कर लेंगे तो फिर प्राप्त हुई स्थितिसे हमारा पतन असम्भव हो जायगा।

जैसे किसी स्रोतमें एक ओरसे जल आ रहा हो। हमने निश्चय किया कि अमुक दिशाकी ओर जल नहीं जाने देंगे; और फिर उस ओर सुदृढ़ बाँध बाँध दिया। अब जल रुक तो जायगा, किन्तु उसके निकलनेका मार्ग भी हमें बनाना चाहिये। अन्यथा जल एकत्र होते-होते जहाँ बाँधकी सीमाको छूने लगा कि बाँध या तो टूटेगा या बाँधको लाँघकर जल बह चलेगा। ऐसे ही जबतक हमारी इन्द्रियाँ काम कर रही हैं, उनमें प्रवाह है ही। यदि हमने इच्छाशक्तिका प्रयोग करके उन्हें किसी ओर जानेसे रोक भी दिया तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनका उस ओरका प्रवाह बन्द हो गया हो। भले ही हमें दीखे नहीं; पर अन्तश्चेतनामें उनकी गति सतत उस ओर ही है। इसीलिये हमें उचित है कि उस ओरसे रोकनेके साथ-ही-साथ तुरन्त हम उन्हें प्रभुकी ओर मोड़ दें। वे उस ओर मुड़ गयीं, मुड़कर प्रभुसे जुड़ गयीं, तब फिर तो सागरसे मिले हुए सोतेकी भाँति सदाके लिये प्रभुकी ओर ही बहती रहेंगी। फिर उनकी दिशा बदल जाय, फिर कुमार्गकी ओर वे दौड़ चलें,

इसकी सम्भावना सर्वथा समाप्त हो जायगी।

किन्तु यह तो तब सम्भव है कि जब हमारा विवेक जाग्रत् हो; यह भला है, यह बुरा है, यह सुमार्ग है, यह कुमार्ग है—इसकी हमें पूरी पहचान हो; इसकी सजग स्मृति हमारे अन्दर सदा बनी रहे। यह विवेक यदि मर नहीं गया है, तो फिर इच्छाशक्तिका प्रयोग करके हम नीचे गिरनेसे बच सकते हैं—ऊपर उठ सकते हैं, पर कभी-कभी तो ऐसा होता है कि हम सर्वथा विमोहित हो जाते हैं। क्या करने जा रहे हैं, किधर जा रहे हैं, हमारी इस चेष्टाका कितना भयानक परिणाम होगा—इन बातोंको हम सर्वथा भूल जाते हैं तथा अन्धे-से, पागल-से हुए अपनेको नरककी ज्वालामें होम देनेके लिये दौड़ पड़ते हैं। उस समय इच्छाशक्ति क्या काम आयेगी। बचनेकी इच्छा हो तब न हम इच्छाशक्तिका सत् प्रयोग करेंगे? जहाँ बचना नहीं, डूबना ही उद्देश्य है, वहाँ तो इस शक्तिकी उपयोगिता नगण्य बन जाती है। वरं ऐसी स्थितिमें किसीकी यदि इच्छाशक्ति बलवती हुई रहती है तो उसका अशुभमें प्रयोग हो जाता है और परिणामस्वरूप भीषण पतन होता है। आसुरी स्वभाववालोंकी भी इच्छाशक्ति प्रबल रह सकती है, पर उसका प्रयोग वैसे ही होता है, जैसे प्रयोग करनेवालोंके आसुरी स्वभावके कारण परमोपकार करनेमें समर्थ अणु-शक्ति (एटम) का प्रयोग जनसंहारमें, फलतः परम्परागत विद्वेष और शत्रुताके विस्तारमें हो रहा है! पर ऐसी भीषण परिस्थितिमें भी हममेंसे बहुतोंका यह अनुभव है कि ठीक मौकेपर कोई आकस्मिक, अप्रत्याशित घटना घट जाती है और आश्चर्यरूपसे हमारी रक्षा हो जाती है; पतनके किनारेसे हम लौट आते हैं, ठीक गिरते-गिरते बच जाते हैं। जो प्रभुकी सत्तामें विश्वास करना नहीं चाहते,वे तो ऐसी घटनाओंका नाम संयोग (Chance)

रख देते हैं। पर जो प्रभुकी सत्तामें विश्वास रखते हैं, वे इसे मानते हैं 'प्रभुकी अहैतुकी कृपा।' वास्तवमें यह संयोग (Chance) नहीं है, सर्वथा निश्चित रूपसे प्रभुकी कृपा ही है। फिर हम क्यों नहीं आरम्भसे ही प्रभुकी कृपापर ही विश्वास करें ? इच्छाशक्तिमें अपार बल होनेपर भी हमें धोखा हो सकता है। उससे उलटा परिणाम भी हो सकता है, वैसे ही जैसे अग्निसे यज्ञादि शुभ कर्म भी हो सकते हैं और सब कुछ भस्म भी हो सकता है; किन्तु प्रभुकी कृपापर विश्वास होनेके उपरान्त कभी धोखा नहीं होगा, यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त है।

हम सोचकर देखेंगे तो पता चलेगा कि इच्छाशक्तिको तो हमें जगाना पड़ता है, अपनी सहायताके लिये बुलाना पड़ता है, पर प्रभुकी कृपा तो सदा जागी हुई है, निरन्तर हमें बुला रही है, पुकार रही है—'अरे अबोध प्राणी ! जागो, मेरी ओर देखो, क्यों भटक रहे हो ?' पर हमारे कान तो दूसरी ओर हैं, हम क्यों सुनने लगे। इतनेपर भी न जाने कितनी बार वह हमारे सामने आती है, हमें गड्ढेमें गिरनेसे बचाती है। साथ ही हमारी रक्षा करके हमपर अहसान करने नहीं आती; अपितु हमारा काम सँवारकर तुरन्त छिप जाती है और हम ऐसे कृतघ्न हैं कि उसको भूल ही नहीं जाते, उसका अस्तित्वतक स्वीकार नहीं करना चाहते; उसके उपकारको संयोगकी बात बताकर टाल देते हैं। इसके बाद भी अत्यन्त गाढ़े समयमें वह पुनः हमारे सामने आती है और हमारी सहायता करती है। हममेंसे प्रत्येकको अपने जीवनकी घटनाओंपर विचार करनेके उपरान्त, एकमात्र प्रभुकी कृपासे ही अमुक-अमुक कार्य हुए थे—यह कहनेमें तनिक भी सङ्कोचका अनुभव नहीं होगा। अतः यदि पतनसे बचनेके लिये पहलेसे ही प्रभुकी कृपापर विश्वास कर लें तो हमारी जीवनयात्रा कितनी सरल-सुखमय हो जाय।

इच्छाशक्तिमें जो बल है, वह भी आता है प्रभुके यहाँसे ही। हम आखिर हैं कौन ? उन सत्-चित्-आनन्दमय प्रभुके अंश ही तो हैं। हमारे अन्दर जो कुछ भी है, वह सर्वथा सब कुछ प्रभुका ही तो है। हमारे आत्मिक बल ही तो इच्छाशक्तिके रूपमें प्रकाशित होता है। यह आत्मबल सर्वथा प्रभुके बलके अतिरिक्त और क्या वस्तु है। अवश्य ही यहाँ, प्रभुका यह बल हमारे 'अहंता' रूपी आवरणके अन्दरसे प्रकाशित होता है, हमारा 'मैं' उस बलको जितने अंशमें ग्रहण कर पाता है, उसे प्रकट होनेके लिये अवकाश दे पाता है, उतने अंशमें ही वह बल व्यक्त हो पाता है। इसीलिये उसकी एक सीमा बन जाती है, और इसीलिये हमारी इच्छाशक्तिका बल भी सीमित है; किन्तु प्रभुकी कृपापर विश्वास कर लेनेके अनन्तर प्रभुका जो बल व्यक्त होता है, वह असीम बनकर ही व्यक्त होता है। ऐसा इसीलिये कि जिस क्षण हम प्रभुकृपापर विश्वास करने चलते हैं, उस क्षण हमारा 'मैं' अत्यन्त सङ्कुचित, क्षुद्र, हलका बन जाता है, कृपाको पूर्णरूपसे व्यक्त होनेके लिये खुला मार्ग दे देता है। फिर जहाँ वह प्रभुकृपाका बल आया कि बस हमारे लिये असम्भव भी सर्वथा सम्भव बन जाता है। जो कार्य इच्छाशक्तिके प्रयोगसे वर्षोंमें नहीं होता, वह प्रभुकृपासे क्षणोंमें पूर्ण हो जाता है।

प्रभुकी कृपापर विश्वास करनेके उपरान्त यदि हम इच्छाशक्तिका प्रयोग करें तब तो फिर कहना ही क्या है। फिर तो वह स्वयं विशुद्ध होकर विशुद्ध लक्ष्यकी ओर जानेवाली हो जायेगी और प्रभुका बल मिल जानेके कारण वह सर्वथा अव्यक्त और अचूक बन जायगी। भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीने एक पदमें अपने ऐसे ही प्रयोगका वर्णन किया है। वे कहते हैं—रे संसार ! मैं तुझे अब जान गया। तेरे अन्दर अब शक्ति नहीं कि तू मुझे बाँध ले। मुझमें अब प्रभुका

बल आ गया है। प्रभुके बलसे मैं अत्यन्त बलवान् हो गया हूँ, अब तू मुझे नहीं बाँध सकता। तू प्रत्यक्ष कपटका घर है, तेरे कपटमें मैं अब नहीं भूल सकता। × × × तू अपनी सेना समेट ले। हट जा यहाँसे। चला जा; मेरे हृदयमें तू नहीं रह सकता। वहाँ जाकर रह, जिस हृदयमें प्रभुका निवास न हो। मेरा हृदय तो प्रभुका निवास बन गया है। यहाँ अब तेरे लिये स्थान नहीं है; तू टिक नहीं सकता।

**मैं तोहिं अब जान्यो संसार।**
**बाँधि न सकहिं मोहि हरिके बल, प्रगट कपट-आगार॥**

× × ×

**सहित सहाय तहाँ बसि अब, जेहि हृदय न नंदकुमार॥**

गोस्वामीजी यहाँ इच्छाशक्तिका ही प्रयोग कर रहे हैं, पर उनकी इच्छाशक्तिके पीछे अपनी 'अहंता' के द्वारसे झरनेवाला आसुरी बल नहीं है, अपितु प्रभुका अनन्त असीम बल—प्रभुकी कृपाका पुनीत बल है! ऐसा समन्वय तो हमारे लिये परम वाञ्छनीय है, बिना हिचक हमें यह कर ही लेना चाहिये। ऊपर उठनेके लिये, पतनसे बचनेके लिये हम यदि प्रभुकृपाके बलसे बलवान् बनकर इस प्रकार इच्छाशक्तिका प्रयोग करें तो हमारा जीवन भी देखते-देखते अन्धकारसे निकलकर प्रभुके आलोकमें आ जाय।

बहुत ठीक, पर ऐसा हो कैसे? प्रभुकी कृपाकी अनुभूति हमें क्यों नहीं होती? प्रभुका बल हमें कैसे मिले? तो इसके लिये यह बात है कि हममेंसे ऐसा कोई भी नहीं है जो प्रभुकी अनन्त अपरिसीम कृपासे—प्रभुके अपार बलसे वञ्चित हो। हम सभीके ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, भीतर-बाहर—सर्वत्र प्रभु भरे हैं, सर्वत्र उनकी कृपा, उनका बल भरा है। उनकी कृपा हमें खींच भी रही है, उनका बल हममें

निरन्तर बलका सञ्चार भी कर रहा है, हम जब उनकी ओर देखते हैं, तब हमें इसका यत्किञ्चित् अनुभव भी होता है। पर सदा एवं पूर्ण अनुभव इसलिये नहीं होता कि हम अपने-आपको भूले हुए हैं। हमारा लक्ष्य अभी दूसरा है, हम प्रतीक्षा औरकी कर रहे हैं। प्रभुकी कृपाकी ओर वास्तवमें अभी हमारी दृष्टि ही नहीं। हम हैं सच्चिदानन्दमय प्रभुके अंश, पर अपनेको मानते हैं साढ़े तीन हाथका शरीर। हमारा लक्ष्य होना चाहिये प्रभुसे भेंट, पर लक्ष्य हो रहा है विविध विनाशशील विषयोंका भोग। चाह होनी चाहिये थी प्रभुकी अनवरत बरसनेवाली कृपाके दर्शनकी, पर चाह है उस कृपाको पद-पदपर ढक देनेवाले अहङ्कारके विजयकी। दृष्टि होनी चाहिये प्रभुकी अहैतुकी नित्य कृपाकी ओर, अक्षय असीम बलकी ओर; किन्तु दृष्टि लग रही है जगत्में प्राप्त होनेवाले मिथ्या आश्वासनोंकी ओर—भौतिक नश्वर, सीमित बलकी ओर। इसीलिये हमें प्रभुका, उनकी कृपाका आकर्षण दीखकर भी नहीं दीखता; उनका बल हममें निरन्तर पूर्ण रहनेपर भी हम दुर्बल बने रहते हैं। अब यदि हम केवल एक काम कर लें, प्रभुकी अहैतुकी कृपापर विश्वास कर लें तो आगेका सब क्रम अपने-आप ठीक हो जाय। प्रभुकी कृपापर विश्वास होते ही सब ओरसे दृष्टि सिमटकर कृपाकी ओर लग जायगी; फिर एकमात्र कृपाकी ही प्रतीक्षा रहेगी, प्रभु ही जीवनके एकमात्र लक्ष्य हो जायँगे और फिर यह भी भान हो जायगा कि हम देह नहीं हैं, हम हैं सच्चिदानन्द प्रभुके सनातन अंश। इसके अनन्तर पद-पदपर कृपाके आकर्षणकी अनुभूति होगी। साथ ही अपने अन्दर प्रभुका दैवी बल भी क्रमशः उतर आयेगा। अब हम चाहें तो इच्छाशक्तिका यह पाठ अवश्य रटना आरम्भ करें—'जो गया सो गया, अब आगे एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट नहीं होने दूँगा। प्रभुकी कृपासे

संसाररूपी रात्रि समाप्त हो गयी। प्रभुने जगा दिया, मैं जाग उठा। अब कभी मायाकी सेज नहीं बिछाऊँगा, मायाके जालमें कभी नहीं फँसूँगा, माया मुझे अब कभी क्षणभरके लिये भी नहीं फाँस सकती। यह देखो, मुझे प्रभुका नामचिन्तामणि हाथ लग गया। इसे हृदयमें सदा सुरक्षित रखूँगा, क्षणभरके लिये भी इसे न भूलूँगा। अब आजसे—इस क्षणसे प्रभुकी विस्मृति मुझे नहीं होगी, मेरा हृदय निरन्तर प्रभुकी स्मृतिसे पूर्ण रहेगा; प्रभुके स्मरणकी अखण्ड धारा मेरे हृदयमें निरन्तर अनन्त कालतक बहती रहेगी। मेरा चित्त इस क्षणसे सदा निर्मल, निर्मलतर होता रहेगा। इन्द्रियाँ अब मेरे मनको विक्षिप्त नहीं कर सकतीं, मुझे मनमाना नाच नहीं नचा सकतीं, अब ये मेरी खिल्ली नहीं उड़ा सकतीं, अब तो इनपर मेरा पूर्ण अधिकार हो गया है, मैं जो आदेश दूँगा, वही ये करेंगी, सर्वथा अनुगामिनी रहेंगी। अब आजसे मेरा मन-मधुकर प्रभुपाद-पद्मोंमें निरन्तर निवास करेगा।'

**अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।**
**राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥**
**पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।**
**स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहौं॥**
**परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।**
**मन मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं॥**

सारांश यह कि अपनी इच्छाशक्तिके बलपर अपने उत्थानकी बात न सोचकर पहलेसे प्रभुकी अनन्त अपार कृपापर हम विश्वास स्थापित करें। इस विश्वासके अनन्तर विश्वासको साथ लिये जो इच्छाशक्ति जागेगी, वह अमोघ होगी, हमें निश्चित रूपसे प्रभुकी ओर ले जाकर निर्बाध पूर्णता प्रदान करेगी। अन्यथा प्रभुके सम्बन्धसे शून्य रहनेपर

अकेली वह (Personal Will Power) न तो शुभकी ओर ही ले जायगी, यह निश्चय है और न वह स्थायी स्थिति ही प्रदान कर सकेगी। स्थायी परिणामके लिये तो उसे मङ्गलमय प्रभुकी ओरसे आनेवाली परम मङ्गलमयी (Positive) शक्तिसे युक्त करना पड़ेगा। प्रभुकी कृपाशक्ति कभी नहीं चूकती। विश्वास न होनेपर भी वह हमारी रक्षा करती है, फिर विश्वास करनेवालेके मार्गको वह विघ्न-बाधासे सर्वथा शून्य करके अतिशय सरल और सुगम बना दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

हम कह सकते हैं कि प्रभुपर विश्वास स्थापित कैसे करें? होता जो नहीं। तो इसका सीधा उत्तर यह है कि हम प्रभुके कृपामय विधानसे आनेवाले दुःखकी प्रतीक्षा करें। दुःख आयेगा, राशि-राशि मात्रामें आयेगा। पर आयेगा हमारी सारी मलिनताको धोकर हमारे अन्दर प्रभुका विश्वास भर देनेके लिये। अथवा शास्त्रकी बात मानकर, अगणित सन्तोंकी बात स्वीकार करके उनके अनुभवको सुन-पढ़कर हम विश्वास कर लें। जीवनमें न जाने कितनी अनदेखी, अनसुनी बातपर विश्वास करके हम अनेक चेष्टाएँ करते हैं, विश्वके किस कोनेमें क्या हो रहा है, यह बिना देखे केवल समाचारपत्र पढ़कर विश्वास कर लेते हैं और उसी मान्यतापर कारोबार आरम्भ कर देते हैं। वैसे ही विश्वके समस्त सामान्य धर्मग्रन्थोंकी, सभी धर्मके सभी अनुभवी सन्त महानुभावोंकी बात मानकर प्रभुकी सत्ता स्वीकार करके नियमितरूपसे, प्रतिदिन सच्चे हृदयसे जितनी बार पुकार सकें, हम पुकारते रहें—

**'प्रभु हौं जैसो तैसो तेरो।'**

—बस, किसी-न-किसी दिन हमें प्रभुकी कृपापर विश्वास हो ही जायगा और वह विश्वास ही हमारे लिये महान् शक्तिका अप्रतिहत और अपरिमित पुञ्ज होगा।

★

# चाहने योग्य सत्य वस्तु

जो वस्तु सत्य है, उसे अपने अस्तित्वकी रक्षाके लिये यह अपेक्षा नहीं रहती कि कोई उसे माने ही। हम उसे न मानें, उसकी सत्ता अस्वीकार कर दें, पर सत्य तो सत्य ही रहेगा, उसकी सत्ता ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। हमारे मानने-न-माननेसे उसका तो कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। हाँ, उसे न माननेके कारण उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले परम लाभसे हम बहुत अंशोंमें वञ्चित अवश्य रह जाते हैं, इतना अन्तर हमारे लिये तो हो ही जाता है।

प्रभुकी सत्ता भी ऐसी ही परम सत्य वस्तु है। कोई भले ही उसे न माने। पर वह तो हममें—विश्वके अणु-अणुमें व्याप्त है; अनादिकालसे है, अनन्तकालतक रहेगी, ज्यों-की-त्यों रहेगी। हम यदि उसे मान लेते हैं, तब तो प्रभुका अनन्त वैभव, अनन्त बल, असीम सुयश (सद्‌गुण), अपरिसीम सौन्दर्य, अथाह ज्ञान, अपार निर्लेपता—उनका सब कुछ हमारा ही है और इसलिये विश्वका कण-कण क्षण-क्षणमें हमारे लिये नये-नये सुखका, नित्य नूतन आनन्दका द्वार खोलता रहता है; किंतु दुर्भाग्यवश यदि हम उनकी सत्ताको अस्वीकार करते हैं तो जगत्‌की अगणित भोग-सामग्री पासमें रहनेपर भी सचमुच हमारा कुछ भी नहीं, यहाँकी प्रत्येक वस्तु हमारे लिये पद-पदपर दुःख-सन्तापका ही सृजन करती रहेगी।

यह अटल नियम है कि जहाँ हमने उनकी सत्ताको स्वीकार करना छोड़ा कि बस वहीं रास्ता भूले; सुन्दर सड़कसे हटकर उधेड़-बुनके बीहड़ जङ्गलमें भटकने लगे, चिन्तारूपी काँटोंसे हमारे अङ्ग छिदने

लगे, दुःखरूपी दावानलकी लपटोंसे सारा शरीर, मन, प्राण—सब कुछ झुलसने लगा। कहीं कोई रक्षक नहीं, पथ दिखानेवाला नहीं! तीन ओरसे त्रितापरूपी दावाग्नि हमें भस्म करनेको दौड़ी आ रही है, आगे निराशाका घोर अन्धकार छाया हुआ है। प्रभुकी उपेक्षा करते ही हमारी ऐसी दशा हो जाती है। यह सम्भव है कि जवानीके जोशमें विषयोंकी मदिरा पी-पीकर उन्मत्त हो जानेके कारण हमें अपनी इस दुरवस्थाका भान पहले कुछ देरके लिये न हो, पर यह नशा उतरनेमें अधिक विलम्ब नहीं होता तथा फिर हमें उपर्युक्त अनुभूति ही होती है। प्रभुकी अवज्ञा करनेका यह अवश्यम्भावी परिणाम है। अतएव हममेंसे किसीको भी, कभी भी, तनिक भी ऐसा अनुभव हो—किसी प्रश्नको लेकर उधेड़-बुन होने लगे, मनमें चिन्ता चुभने लगे, जलन होने लगे, सहायकका अभाव खटकने लगे, पीछे हटनेमें तो विनाश दीखे और आगे बढ़ना सम्भव नहीं प्रतीत हो—तो उसे उस समय तुरन्त निश्चित रूपसे यह समझ लेना चाहिये कि उसने प्रभुकी सत्ताका अवश्य-अवश्य अनादर किया है। पथ भूलकर सन्मार्गसे हटकर कुमार्गपर आ गया है तथा इस विपत्तिजालसे छूटकर सन्मार्गपर आ जानेका एकमात्र उपाय यह है कि वह जहाँ जिस परिस्थितिमें है, वहीं उसी अवस्थामें प्रभुकी सर्वत्र व्याप्त सत्ताको स्वीकार कर ले। ऐसा किया कि बस, उसी क्षण वहीं प्रभुकी सत्ता व्यक्त हो जायगी, वहींसे सीधा अत्यन्त सुन्दर मार्ग उसे दीख जायगा, प्रश्न हल हो जायगा, जलन शान्त हो जायगी, चिन्ता मिट जायगी। साथ ही—प्रभुका वरद हस्त निरन्तर मेरे सिरपर था और है—यह अनुभूति भी उसे हो जायगी।

सच तो यह है कि यहाँ इस विश्वमें हमारे लिये कोई भी विपत्तिका

जाल नहीं, दुःखका कोई भी तनिक भी कहीं भी कारण नहीं है। सर्वत्र सब ओरसे हमारे लिये मङ्गलका, परम आनन्दका स्रोत बह रहा है। ऐसा इसलिये कि एकमात्र प्रभु ही सदा सर्वत्र विराजित हैं। हमारे आगे वे हैं, हमारे पीछे वे हैं, दाहिनी ओर वे हैं, बायीं ओर वे हैं, नीचे वे भरे हैं, ऊपरकी ओर भी वे ही भरे हैं, सम्पूर्ण जगत्‌के रूपमें वे ही हमें दीख रहे हैं—

**ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।**
**अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥**

(मुण्डक० २।२।११)

किंतु हम इस बातको मानते नहीं, इस परम सत्यको स्वीकार नहीं करते। इसलिये हम भ्रान्त हो जाते हैं, हमें कुछ-का-कुछ दीखने लग जाता है, नित्य मङ्गलके स्थानपर अमङ्गलका और सतत आनन्दके स्थानपर दुःख-ज्वालाका अनुभव होने लगता है। अब यदि हम भ्रान्तिको मिटा दें, सत्यको स्वीकार कर लें, यह मान लें कि हमारा तो प्रभुमें ही निरन्तर निवास है, बस, फिर तो हमारी सारी उधेड़-बुन, चिन्ता, दुःख सदाके लिये मिट जायँ; जहाँ दृष्टि जाय, वहीं हमें सुख-ही-सुख भरा दीखे। यह कोई आवेशजन्य धारणा (Hypnotic Suggestion) जैसी क्रियाका क्षणिक परिणाम हो, सो बात नहीं। यह तो परम सत्य सिद्धान्त है, मनीषियोंका प्रत्यक्ष स्थायी अनुभव है। कोई भी इसपर विश्वास करके नित्य सत्य प्रभुकी सर्वत्र सत्ता स्वीकार करके सदाके लिये सुखी हो सकता है।

हम कह सकते हैं कि ऐसा करना कौन नहीं चाहेगा। सुखकी चाह किसे नहीं है? तो इस सम्बन्धमें यह बात है कि केवल कहने-सुननेमात्रसे ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं होती। इसके लिये तो हमें अपने

जीवनका दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। मानव-जीवनकी सार्थकता पशुकी भाँति भोग भोगनेमें नहीं, अपितु नित्य सत्य प्रभुकी अनुभूति कर लेनेमें है, यह दृष्टि स्थिर करनी पड़ेगी। सत्-स्वरूप प्रभुसे ही हम निकले हैं, सत्-स्वरूप प्रभुमें ही हमारा निवास है और अन्तमें भी हम सत्-स्वरूप प्रभुमें ही प्रतिष्ठित रहेंगे—

**'सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।'**

इस सिद्धान्तको शरीर छूटनेसे पहले ही प्रत्यक्ष अनुभव कर लेनेके लिये कटिबद्ध होना पड़ेगा तथा यह करके प्रभुकी ओरसे निरन्तर बहनेवाली प्रेमकी धारा, करुणाकी धाराके लिये हमें अपने अन्दर मार्ग देना पड़ेगा, अपने द्वार खोल देने पड़ेंगे। अभी तो हमने सब ओरसे अपनी अगणित स्वार्थमयी इच्छाओंके किवाड़ बनाकर उन्हें बन्द कर रखा है। प्रभुका प्रेम, उनकी कृपा हमें अपने-आपमें मिला लेनेके लिये हमारे द्वारपर आती है, पर सब ओरसे द्वार बन्द देखकर लौट जाती है। हमारी इच्छाएँ ही प्रभुके मङ्गलमय, प्रेममय, कृपामय दानसे हमें वञ्चित कर देती हैं। इसीलिये हमें अपनी इच्छाओंका त्याग करना ही पड़ेगा, अपनी इच्छा मिटाकर प्रभुकी इच्छाको अपने अन्दर व्यक्त होनेके लिये मार्ग देना पड़ेगा। तभी हमारा काम होगा, तभी हमारे उद्देश्यकी पूर्ति होगी।

एक दिनमें ऐसा हो जायगा, यह सम्भव नहीं। अपनी इच्छाओंका त्याग कर देना सहज नहीं है। यों तो प्रभुमें अनन्त सामर्थ्य है। उनकी कृपासे क्षणभरमें असम्भव सम्भव हो जाय, यह बात दूसरी है। पर साधारणतया क्रमशः ही हम अपनी इच्छाओंका त्याग कर सकेंगे। इच्छाएँ छूट जायँ, इसके लिये हमें यह विश्वास बढ़ाना पड़ेगा, यह दृढ़

जो भी उचितरूपसे चाहिये, वह हमें प्रभु अवश्य देते हैं तथा आगे भी जो आवश्यक होगा उसकी पूर्ति वे अवश्य करेंगे। जो हमें प्राप्त नहीं है, उसकी आवश्यकता ही हमें नहीं है। हमारे लिये जो आवश्यक है, वह प्रभु न दें, यह असम्भव है। इस भावको जाग्रत् कर प्रत्येक इच्छाकी जड़ काटनी होगी। यह भाव जितनी मात्रामें दृढ़ होता जायगा, उतनी ही मात्रामें इच्छाएँ मिटती जायँगी। और जैसे-जैसे इच्छाएँ मिटेंगी, वैसे-वैसे ही द्वार खुलने लगेंगे, हमारे अन्दर प्रभुका प्रेम भरने लगेगा। उनकी कृपा भरने लगेगी। धीरे-धीरे हमारा सब कुछ प्रभुसे एकमेक हो जायगा। प्रभुकी सत्तामें ही हमारा 'मैं' भी विलीन हो जायगा। अन्तमें सब ओर सर्वत्र बच रहेंगे एकमात्र केवल प्रभु ही और कुछ नहीं।

पर कदाचित् हम अत्यन्त गिरी दशामें हों, इतने निर्बल हो गये हों कि इच्छाओंको छोड़नेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ अनुभव करें, 'नाथ ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, मेरी कोई भी इच्छा नहीं, तुम जैसे चाहो वैसे ही करो नाथ !' हमारा हृदय कभी यों न पुकार सके और न हमारा दृष्टिकोण ही बदले, भोग ही हमारे जीवनका उद्देश्य बना रहे, तब हम क्या करें ? हमारे-जैसोंके लिये भी आगे बढ़नेका, प्रभुकी सत्ता अनुभव करनेका कोई उपाय है क्या ? है, अवश्य है। हम अपनी भोगेच्छाको लिये हुए ही प्रभुसे जुड़ें। हमें धन, जन, परिजन, स्वास्थ्य, मान-सम्मान, यश-कीर्ति—यही चाहिये तो भी कोई बात नहीं। इन्हें लिये रहकर ही इनकी पूर्तिके लिये हम प्रभुसे जुड़ें, पर इतनी सावधानी रखें—

(क) प्रभुपर यह बन्धन न लगावें कि वे हमारी अमुक इच्छाकी पूर्ति अमुक रूपमें करें। उनके सामने अपनी इच्छा रख दें, पर उन्हें उपाय न बताने लग जायँ कि इस इच्छाकी पूर्तिके लिये वे अमुक

निमित्त ही निर्धारित करें। विश्वास रखें कि उनके असीम ज्ञानमें एक-से-एक बढ़कर इतने सुन्दर-सुन्दर असंख्य उपाय हैं कि जिनकी कल्पना भी हमारे मन-बुद्धिके लिये सर्वथा असम्भव है!

(ख) उनसे कहनेके पश्चात् वे करेंगे कि नहीं यह संशय मनमें न आने दें। वे करेंगे ही, यह विश्वास क्षण-क्षणमें दृढ़-दृढ़तर होता रहे।

(ग) प्रारम्भमें यदि वे हमारी कुछ इच्छाओंको पूर्ण न करें तो भी हम निराश न हों—पूर्ण उत्साहसे उनके सामने फिर भी अपनी दूसरी-दूसरी इच्छाओंको रखनेके लिये अवश्य आवें।

(घ) वे यदि पूर्ण करनेमें देर करें तो घबराकर हम दूसरेकी ओर देखने न लग जायँ अथवा अपने बलपर पूरा करनेका मनसूबा न बाँधने लगें।

(ङ) भूलकर भी किसीको नीचा दिखानेके लिये, किसीकी हानि करनेके उद्देश्यसे कोई भी वस्तु प्रभुसे कदापि न माँगें।

यदि उपर्युक्त पाँच बातोंकी सावधानी रखकर हम प्रभुसे कुछ भी माँगेंगे तो दोमेंसे एक बात निश्चय होगी—या तो वह वस्तु प्रभु हमें दे देंगे या उस वस्तुके प्रति हमारी जो इच्छा है, उस इच्छाको ही मिटा देंगे। यदि उन्होंने हमारी इच्छा मिटा दी तो काम बन गया; किन्तु कहीं पूर्ण कर दी तो उसमें भी इच्छा-पूर्तिके अतिरिक्त एक परम लाभ हमें और हो गया। वह यह कि उनके द्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तु आगे ऐसी नवीन इच्छामें हेतु नहीं बनेगी जो हमारी प्रगति रोक दे। हमें उनकी ओर बढ़ानेवाले अङ्कुर ही उस वस्तुसे प्रकट होंगे। ये अङ्कुर कुछ ऐसे विचित्र होते हैं कि इनकी ओटमें अन्य समस्त इच्छाएँ मर जाती हैं। फिर तो वही स्थिति आ जाती है—इच्छाएँ मिट गयीं और हममें सब ओरसे प्रभु-ही-प्रभु पूर्ण हो गये।

अबतक जितनी बातें हमारे सामने आयीं उनका सारांश यह है—

प्रभु है, किसीके न माननेपर भी उनकी सत्ता अक्षुण्ण रहती है। न माननेवाला माननेके कारण होनेवाले परम लाभसे वञ्चित हो जाता है। उन्हें न माननेका ही परिणाम है जीवनमें उधेड़-बुन, दुःख-ज्वाला! अन्यथा इनका अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि सर्वत्र प्रभु परिपूर्ण हैं, सर्वत्र आनन्द भरा है। कोई भी इस स्थितिका अनुभव प्राप्त कर सकता है। पर इसके लिये उसे इस ओर मुड़ना पड़ेगा तथा अन्य समस्त सांसारिक इच्छाओंको छोड़ना पड़ेगा। भोगकी इच्छा मिटा देनेमें असमर्थ प्राणीको भी प्रभुकी अनुभूति हो सकती है, पर तब, जब कि इच्छापूर्तिके लिये भी वह अन्य उपायोंको छोड़कर एकमात्र प्रभुपर ही निर्भर हो जाय।

उपर्युक्त बातोंपर विचारकर यदि हम प्रभुकी सत्ता स्वीकार कर लें तो फिर हमारे जीवनमें पद-पदपर जो नयी-नयी उलझनें आती हैं, एकका समाधान करते-न-करते दूसरी आ घेरती है, वे न आवें। हममेंसे अधिकांशके हृदयमें जो दुःखकी भट्ठी जलती है, वह शान्त हो जाय। उसके स्थानपर सुखका एक ऐसा शीतल शान्त स्रोत उमड़ चले कि उसकी धारामें निमग्न होकर हम स्वयं तो शीतल हो ही जायँ, हमारे सम्पर्कमें आनेवाले दूसरे भी निहाल हो जायँ। इसीलिये भारतवर्षके ऋषि परम निष्काम होकर भी यह कामना करते थे—

**माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।**

'मैं कदापि प्रभुकी सत्ता अस्वीकार न करूँ, प्रभु भी मुझे कभी भूल न जायँ।'

हम भी यही कामना करें। सर्वप्रथम चाहने योग्य सत्य वस्तु असलमें यही है। इसीकी चाह हममें होनी चाहिये।

# प्रभुका आदेश

सब मनुष्योंको सब समय प्रभुकी ओरसे अपने अन्तरात्मामें यह आदेश अवश्य मिलता रहता है कि 'ऐसे करो', 'ऐसे मत करो' किन्तु हम अधिकांश ऐसे हैं जो उनके आदेशको सुन नहीं पाते। यदि कहीं कोई सुनता भी है तो वह उपेक्षा करता है। इसका निश्चित परिणाम यह होता है कि हम जहाँ जिस क्षेत्रमें जाते हैं, वहाँ ही हमें उलझन मिलती है। अपनेसे आगे बढ़े हुएको देखकर हम जल उठते हैं। अपनी जलनको शान्त करनेके लिये उसकी कटु आलोचना आरम्भ करते हैं और जलन उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अपने अतिरिक्त अन्य सभी हमें भूले हुए दिखायी देते हैं, सबको सुधारनेका, सारी बुराइयोंको एक साथ दूर कर देनेका हम ठेका ले बैठते हैं। विरोधीकी एक बात भी सुननेके लिये हम तैयार नहीं, अपनी-अपनी ही हमें सुनानी रहती है। अपना मैल धोनेके लिये हमारे पास अवकाश नहीं बच रहता। धोना दूर, हम भी गन्दे हो सकते हैं, यह सोचने-विचारनेतकका अवकाश नहीं; वस्तुतः मैलसे हम चिपटे होते हैं, पर स्वप्न देखने लगते हैं स्वर्गीय जीवनका। प्रभुकी ओरसे आयी हुई प्रेरणाको, उनके दिये हुए स्नेहभरे आदेशको न सुननेका, सुनकर उपेक्षा कर देनेका यह स्वाभाविक परिणाम है! तथा ऐसी भावना, ऐसी प्रवृत्ति जितनी अधिक बढ़ती है उतनी ही मात्रामें हम उत्तरोत्तर उनकी मङ्गल-प्रेरणाको ग्रहण करनेमें अयोग्य बनते जाते हैं। उनकी आवाज और हमारे ज्ञानके बीचमें व्यवधान घना होता जाता है। कुत्सित भावना, उससे कुत्सित प्रवृत्ति, फिर उससे कुत्सित संस्कार—इनकी क्रमशः मोटी-मोटी दीवालें बनती जाती हैं और इसी क्रमसे धीरे-धीरे प्रभुकी ओरसे आयी हुई सूचना

क्षीण, क्षीणतर होती हुई अन्तमें वह ऐसी बन जाती है मानो लुप्त हो गयी; है ही नहीं, थी ही नहीं। आदेश तो उस समय भी आता ही रहता है, पर हमारा मन उसे ग्रहण करनेमें सर्वथा अयोग्य हो जाता है, इसलिये वह आदेश सुन नहीं पड़ता।

कल्पना करें, हमारे सामने जीवनयात्रासम्बन्धी कोई प्रश्न उपस्थित हुआ। अब इस विषयमें कौन-सी व्यवस्था सबसे सुन्दर होगी, हमें क्या करना चाहिये, हम क्या करें—ये सभी बातें हमें प्रभुकी ओरसे प्राप्त होती हैं, उनका निश्चित आदेश इस सम्बन्धमें हममेंसे प्रत्येकको अवश्य मिलता है, पर हम सुन नहीं पाते। और तबतक सुन भी नहीं पायेंगे, जबतक अपने अन्दर बार-बार पद-पदपर व्यक्त होनेवाली व्यक्तिगत अहङ्कारकी आवाजको सर्वथा कुचलकर हम प्रभुकी आवाज, प्रभुके आदेशको वास्तवमें सुननेके लिये तैयार न हो जायँगे। हमारे सामने तो जब कोई भी समस्या आती है, तब हमारा अहङ्कार सामने आ जाता है और एकके बाद एक अनेक युक्ति बतलाने लगता है—यह करो, वह करो। हम सोचते हैं, ऐसा करके हम सफल हो जायँगे, सुखी हो जायँगे। क्षणभरके लिये भी हमारे अन्दर यह विचारतक नहीं उदय होता कि यह कार्य, यह ढंग प्रभुके आदेशका अनुगामी है या नहीं। मन अगणित असंख्य संस्कारोंसे, वासनाओंसे भरा होता है, वर्तमानका वातावरण अनुरूप संस्कारोंको प्रभावित करता रहता है। वे जाग उठते हैं तथा उन्हींके अनुरूप हम अपना कार्यक्रम स्थिर करते हैं, समस्याएँ हल करने चलते हैं। संयोगसे हमारे कुछ कार्यक्रम, कुछ सुझाव प्रभुके आदेशके अनुकूल भले हो जायँ, पर अधिकांश विपरीत होते हैं। विपरीत होनेका ही यह प्रमाण है कि आगे बढ़ते ही हम उलझन, ईर्ष्या, परनिन्दा, अहम्मन्यता, असहिष्णुता,

मलिनता, अज्ञान—इनसे घिर जाते हैं। यही आजके जगत्में हो रहा है; हम सोचकर देखेंगे, तो प्रायः सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें कहीं कम तो कहीं अधिक, यही स्पष्ट देख पायेंगे।

यह ठीक है कि अहङ्कारकी आवाजको सर्वथा शान्त कर देना सहज नहीं और यह हुए बिना प्रभुके सङ्केतको भी स्पष्ट सुन लेना सम्भव नहीं। पर इस दिशामें हमारा प्रयत्न भी तो हो। उनकी ओरसे आयी हुई प्रेरणाको ग्रहण करनेके लिये हमारा मन उन्मुख तो हो। हम अपनी प्रत्येक चेष्टाके आरम्भमें उनकी ओर मुड़ें तो सही। हमारी इच्छा तो हो। उनके आदेशका अनुसरण करनेका निश्चय तो हमारी बुद्धिमें हो जाय। फिर तो उनकी ओरसे कुछ-न-कुछ, नहीं-नहीं पर्याप्त प्रकाश मिलेगा ही। एक बार हम अपने सञ्चित संस्कारोंके प्रवाह (स्फुरणा) को रोक दें, मनको खाली कर दें, न खाली कर सकें, बरबस स्फुरणाएँ उठती ही रहें तो फिर प्रभुसे सम्बन्ध रखनेवाले विचारोंको, भावोंको मनमें भरना आरम्भ कर दें, प्रभुके स्मरणसे चित्तको पूरित करने लग जायँ। इससे यह होगा कि अहङ्कार रहनेपर भी चित्तमें प्रभुके दिव्य सन्देशका स्पन्दन आरम्भ हो जायगा। कदाचित् अपने एवं प्रभुके बीचमें स्थित आवरणकी घनताके कारण हमें उस स्पन्दनकी अनुभूति न हो अथवा इतनी अस्पष्ट हो कि हम ठीक-ठीक उसे समझ न पायें, प्रभु क्या चाहते हैं, उनकी क्या आज्ञा है, यह स्पष्ट निर्णय हम नहीं कर पायें तो भी हमारा काम तो हो ही जायगा। वह इस रूपमें कि हमारे अनजानमें ही हमारे चित्तकी, बुद्धिकी, इन्द्रियोंकी गति उसी ओर हो जायगी, जिस ओर प्रभु हमें ले जाना चाहते थे। तथा उस ओर गति होनेपर हमारे लिये उलझन नहीं रहेगी, हम क्या करें, क्या नहीं करें—यह उधेड़-बुन नहीं रहेगी। अपने-आप स्वाभाविक ही हम जिस ओरसे हटना चाहिये, हट जायँगे। जिधर चलते रहना चाहिये, चलते रहेंगे।

ईर्ष्याकी आग फिर हमें नहीं जलायेगी, 'हाय रे, हमने इतना ही कमाया, उसने इतने कमा लिये; हमारी पूछ नहीं, उसका सभी आदर करते हैं; हम पीछे रह गये, वह आगे बढ़ गया, वह गिर क्यों नहीं पड़ता'—ये कलुषित भावनाएँ हमें छू नहीं सकेंगी। दूसरेके दोषोंकी आलोचना कर अपना मन गन्दा करनेकी प्रवृत्ति हममें नहीं होगी। 'हम ठीक हैं, अन्य सभी भ्रान्त हैं'—यह गर्व हमारे अन्दर नहीं आयेगा। सबको निर्मल कर देनेका बीड़ा हम कदापि नहीं उठायेंगे। अपने विपक्षीकी बातका भी हम यथायोग्य आदर करेंगे। अपने अन्दरका छोटे-से-छोटा दोष भी सामने आने लगेगा। उसे धोनेमें ही हम इतना व्यस्त हो जायँगे कि दूसरोंमें कहीं मैल है भी यह स्मृति लुप्त हो जायगी। अपनी स्थितिके सम्बन्धमें हमें भ्रान्ति नहीं होगी, वास्तवमें हम कहाँ हैं, उसका ज्ञान हमें बना रहेगा; भूलकर भी हम हवाई किलेमें राजा बनकर सैर करने न जायँगे; मलिनतासे भरे रहनेपर भी देवता-महात्मा होनेका भ्रम हमारे अन्दर कभी नहीं आयेगा। प्रत्येक चेष्टाके आरम्भमें—चाहे वह कितनी भी नगण्य-सी चेष्टा क्यों न हो—प्रभुकी प्रेरणा, इच्छा-आदेशके साँचेमें हमारी बुद्धि, मन, इन्द्रियोंके ढल जानेपर ये बातें हममें निश्चित रूपसे होंगी ही। ये नहीं हों, इनसे विपरीत हों तो समझ लेना चाहिये कि हमारी चेष्टा प्रभुकी प्रेरणासे परिचालित नहीं है। अपितु हम अहङ्कारकी आवाजसे नियन्त्रित होकर पीछेकी ओर नीचे गिरते जा रहे हैं। जितनी शीघ्रतासे हम चेतेंगे, उतना ही अधिक हमारा एवं जगत्‌का लाभ होगा। जितनी अधिक देर लगेगी उतनी ही अधिक मात्रामें हमारा एवं जगत्‌के ध्वंसका मार्ग प्रशस्त होगा।

किन्तु अभी हमारी दशा तो यह है—

**मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।**

अत्यन्त कठिन मार्गसे हम चल रहे हैं, पासमें पथके लिये पाथेय (राहखर्च) भी नहीं है और सबसे बड़े मजेकी बात तो यह है कि हमें

जिस गाँवमें जाना है, उसका नामतक हम भूल गये हैं। मार्ग कठिन इसलिये कि हमारे चारों ओर विषयोंके झाड़-झङ्खाड़, पर्वत, वन भरे पड़े हैं, क्षण-क्षणमें हम रास्ता भूल रहे हैं। प्रभुकी स्मृतिरूपी पाथेय भी नहीं, जो हमारे श्रान्त मन, इन्द्रिय, प्राणोंमें पुनः-पुनः नवशक्तिका सञ्चार करता रहे और सबसे अधिक चिन्ताकी बात तो यह है कि हम मानव-जीवनके उद्देश्यको ही भूल गये हैं। प्रभुकी प्राप्ति ही हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य है, वहीं हमें जाना है, हमें इस बातकी ही विस्मृति हो गयी है। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक कार्यका आरम्भ करते समय प्रभुका सङ्केत ग्रहण करनेकी वृत्ति हमारे अन्दर जाग उठे, हम उसके लिये प्रयास करें यह सम्भावना कहाँ ? हाँ, किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यवश यदि दुःखोंसे छूटनेके लिये भी हम प्रभुको पुकार सकें, सच्चे सरल हृदयसे अपनी यह विनय सुना सकें—'नाथ ! अब तुम्हीं आगे ले चलो'—

**तुलसिदास भव-त्रास हरहु अब होहु राम अनुकूला रे।**

—ऐसी सच्ची भावना दुःखके समय ही हमारे अन्दर जाग उठे तो भी जीवनके अन्ततक हम कृतार्थ हो जायँ। इसमें तनिक भी सन्देहके लिये स्थान नहीं। दुःखमें की हुई प्रत्येक पुकार हमारे एवं प्रभुके बीचमें स्थित पर्देको क्रमशः फाड़ती ही जायगी। प्रभुके साथ किया हुआ क्षणभरका सम्बन्ध भी हमारे मन, प्राण एवं इन्द्रियोंमें अपनी छाप—स्थायी प्रभाव छोड़ जायगा। किसी दिन प्रबल दुःखको निमित्त बनाकर प्रभुको पुकारते समय कोई ऐसा भरपूर धक्का लगेगा कि आवरण छिन्न-भिन्न हो जायगा। उसीके साथ हमारे अहङ्कारकी आवाज भी शान्त हो जायगी, और तब वास्तवमें हम प्रभुका आदेश अत्यन्त स्पष्टरूपसे सुननेमें समर्थ हो सकेंगे। उस समय हमारा जीवन कुछ और ही होगा।

★

# विचारोंका संयम

कभी-कभी हमारे मनमें रहनेवाले विचारोंसे इतना भारी अनर्थ हो जाता है कि जिसकी हमें कल्पनातक नहीं होती। मान लीजिये—हम बाजार चले। उसी रास्तेमें सड़कपर दो व्यक्ति लड़ रहे हैं। उन्हें लड़ते देखकर हम खड़े हो गये। बिना बोले चुपचाप कुछ देरतक उनको लड़ते हुए देखते रहे। इस देखनेका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हम उन दोनोंमेंसे किसी एकके प्रति मन-ही-मन झुक पड़े; एकका पक्ष हमें अपेक्षाकृत ठीक एवं दूसरेकी भूल दीखने लगी। हमारे अन्दर भी क्रोधके परमाणु थे, जो प्रायः रहते हैं ही; परिणाम यह हुआ कि हमें जिसकी भूल दीखती थी, उसके प्रति हमारे मनमें भी क्रोधका सञ्चार हो गया। हमारा उन दोनों व्यक्तियोंमें किसीसे भी कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी मन-ही-मन हम गरम हो उठे और उसके प्रति क्रोधसे सने विचार उत्पन्न होने लगे। इतनेमें दीखा कि हमने जिसका मन-ही-मन पक्ष लिया था, उसने अपने प्रतिपक्षीके सिरपर जोरसे लाठी जमा दी और उसका सिर फट गया। लोग दौड़ पड़े, पुलिस भी आ गयी। हमें भी प्रतीत हुआ कि आह! यह तो बुरा हुआ तथा यह सोचते हुए हम अपने रास्ते चले गये। पुलिसने मारनेवालेको चालान कर दिया; क्योंकि प्रत्यक्ष था कि उसने एकका सिर फोड़ा है। उसे सजा भी हो गयी।

किन्तु इस घटनामें एक बात ऐसी हुई है जिसे किसीने नहीं जाना। वह बात पुलिसकी रिपोर्टमें नहीं आयी, हमने भी नहीं जाना। वह बात यह है कि वास्तवमें सिर फोड़नेका अपराधी वह अकेला ही नहीं है, जिस बेचारेको सजा हुई है, हम भी हैं। यह सुनकर हम भले चकरा

उठें, पर बात बिल्कुल सच्ची है। हमारे न जानने न माननेपर भी जनताके द्वारा सज्जन पुरुष होनेका प्रमाणपत्र पा लेनेपर भी, यह बात सच्ची ही रहेगी।

इसको ठीकसे समझनेके लिये इस प्रकार विश्लेषण करें—दोनों लड़ रहे थे, दोनोंमें ही क्रोध था, किन्तु जिसने सिर फोड़नेका अपराध किया है, उसमें पहले क्रोधकी मात्रा इतनी, ऐसी नहीं थी कि वह लाठी मारनेकी क्रियामें हेतु बन सके। इस क्रियाके लिये जितना क्रोध जाग्रत् होना चाहिये, उतना उसमें हमारे वहाँ जानेसे पूर्व अवश्य ही नहीं था। दुर्दैवयोगसे हम वहाँ जा पहुँचे। हमने उसका मन-ही-मन पक्ष लिया। हमारा क्रोध उभड़ा और उसने वहाँ उसके पास जाकर जितनी कमी थी, उसकी पूर्ति कर दी। लाठी मारनेके लिये जितना क्रोध उसमें घट रहा था, उतना हमने अपनी ओरसे उसे दे दिया और उसने लाठी मार दी। दूसरे शब्दोंमें लाठी मारनेकी जो क्रिया हुई है, वह हमारे क्रोधसे सम्पन्न हुई है। यदि हम वहाँ न जाते, जाकर यदि शान्त-सुस्थिर बने रहते तो उसके क्रोधको बल नहीं मिलता तथा यह क्रिया न घटती। उसके पास तो इतना ही क्रोध था कि खूब बकने-झकनेमें ही वह उलझा रहता। पर हमारे अन्दरकी आग उसके पास बिना किसीको दीखे जा पहुँची और उसने उसके द्वारा यह कुकृत्य करवा दिया। फिर हम भी अपराधी कैसे नहीं हुए?

सोचकर देखेंगे तो पता चलेगा कि अनजानमें ही हमारे द्वारा प्रतिदिन न जाने ऐसी कितनी घटनाएँ घटती हैं, कितनी बार ऐसे अलक्षित अपराध बनते रहते हैं। तथा ठीक इससे विपरीत, यदि हमारे शुभ विचार हैं तो उनसे हमारे बिना जाने ही कितनोंकी सेवा हो जाती है। जैसे हम किसी व्यक्तिसे मिलने गये। वहाँपर एक और कोई दुःखी

व्यक्ति बैठा है, अपनी दुःख-गाथा सुना रहा है। हम भी सुनने लगे। सुनते-सुनते हमारे मनमें सहानुभूति उत्पन्न हुई, हृदय करुणासे भर आया, मनमें आया कि इनकी सहायता अवश्य होनी चाहिये। इतनेमें वह व्यक्ति, जिससे हम मिलने गये थे, दुःखीको सान्त्वना देते हुए कह उठा—'आप चिन्ता न करें, आपका काम मैं अभी कर देता हूँ।' तथा उसने वह काम तुरन्त कर भी दिया। अब यहाँ हमने अपने मुँहसे उसकी कोई भी सिफारिश नहीं की, अपनी जानमें उसकी सहायता करनेकी कोई चेष्टा भी न की। पर वास्तवमें अभी-अभी जो उसकी सहायता हुई है, उसमें हमारा भी भाग है। हमारे आनेसे पूर्व उस व्यक्तिमें सद्भावना अवश्य थी, पर इतनी मात्रामें नहीं थी कि वह तुरन्त सक्रिय रूप धारण कर ले; किन्तु हमारी मनोगत सहानुभूति और करुणाने उसके मनको स्पर्श कर लिया, सक्रिय सहायताके लिये जितनी सहानुभूति और करुणा घट रही थी उसकी पूर्ति हो गयी ! बस, काम हो गया। लोगोंको भले ही इसका पता न लगे, जिसकी सहायता हुई, जिसने की वे दोनों भी न जानें, हमें भी कल्पना न हो कि हमने भी कुछ किया है, पर असलमें वह सेवा सम्पन्न हुई है हमारी सद्भावनासे। हमारी प्रबल सहानुभूतिका बल उसे यदि उस समय नहीं मिलता तो सम्भवतः उसकी सद्भावना तुरन्त सक्रिय रूप धारण नहीं करती।

और भी व्यापक दृष्टिसे इस बातपर विचार करें। कल्पना कर लें, दो देशोंमें युद्ध हो रहा है। वे देश हमसे हजारों कोस दूर हैं। आँखोंसे हमने उन देशोंको देखा नहीं। केवल समाचारपत्रोंसे ही युद्धकी घटना पढ़ते-सुनते हैं। पर कुछ ही दिनोंमें यह परिणाम होता है कि एकके प्रति हमारे मनमें पक्ष हो जाता है। हम एककी विजय चाहने लगते हैं और दूसरेकी पराजय। उसकी विजय सुनकर हमारे मनमें उल्लास होता है,

पराजय सुननेपर हृदयमें ठेस लगती है। अब यदि यह कहा जाय कि वहाँकी वैमनस्यकी आग उत्तरोत्तर प्रज्वलित करते रहनेमें युद्धसे होनेवाले भयङ्कर नरसंहारमें हम भी योगदान कर रहे हैं, तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। हम यह कह भले ही दें कि 'हमारा क्या सम्बन्ध है, हम तो अखबार पढ़ते हैं तथा फिर जैसा ठीक लगता है, कह देते हैं।' पर बात ऐसी नहीं है। सचमुच हमारे द्वारा अनजानमें ही उस पापमें योगदान दिया जा रहा है, अनेकोंकी जान लेनेमें हम भी सहायता कर रहे हैं। यह सदा ध्यानमें रखनेकी बात है कि जगत्‌में जो भी घटनाएँ घटित होती हैं, उनमें यदि हमारे विचार अच्छे हैं, तो अच्छीके साथ, बुरे हैं तो बुरी घटनाके साथ हमारा न्यूनाधिक कुछ-न-कुछ निश्चित सम्बन्ध है ही। यहाँकी घटना वस्तुतः है ही हमारे मनके विचारोंका मूर्तरूप। दो महायुद्ध हुए। ये क्या थे ? बस, जहाँ-जहाँ द्वेषपूर्ण विचार थे, सब एकत्र हो गये और वे ही भीषण नरसंहारके रूपमें प्रकट हो गये। ऐसे ही जगत्‌में जहाँ-जहाँ सद्विचार हैं, वे एकत्र होते हैं, तो फिर उनसे प्रेम, शान्ति-सुख बढ़ानेवाली घटनाओंका विस्तार होता है। हमारे अन्दर यदि तनिक भी बुरे विचार हैं तो वे अपनी शक्तिके अनुसार निकट एवं दूर बुरी घटना घटनेमें हेतु बनेंगे तथा हमारा तनिक-सा सद्विचार समीप एवं दूरके वातावरणमें शुभकी सृष्टिमें सहायक बनेगा।

इसीलिये आज जब कि सर्वत्र दुःख, अशान्ति बढ़ रही है, घृणा द्वेषमूलक घटनाओंकी संख्या बढ़ती जा रही है, ऐसे समयमें हमें अपने विचारोंके संयमकी अत्यधिक आवश्यकता है। अन्यथा हम घर बैठे-बैठे अखबारोंको पढ़-पढ़कर, रास्ते चलते हुए किसी घटनाको देख-सुनकर अलक्षित अपराध करते रहेंगे, जिसका परिणाम हमारे लिये, विश्वके लिये और भी अत्यन्त भयावह होगा। ऐसा न हो, इसके लिये

हमारे मनमें असद्विचार उत्पन्न होनेकी सम्भावना ही न रहे, निरन्तर परम शुभसे मन पूर्ण रहे, ऐसी स्थिति हमें उत्पन्न करनी पड़ेगी।

यों तो इसके लिये मनीषियोंने अनेक उपाय बताये हैं, पर सर्वोत्तम उपाय है, अपने मनसे जगत्‌की कल्पनाको ही मिटा देना तथा जगत्‌के स्थानपर सदा-सर्वत्र एकमात्र आनन्दमय प्रभुकी सत्ताके ही दर्शन करना। यह हुआ कि फिर असद्विचारकी जड़ ही कट जायगी। सर्वत्र भगवद्भाव हो जानेपर जानमें, अनजानमें कभी किसी प्रकारका अपराध हमसे घट नहीं सकता। हमारे द्वारा जो अशुभका विस्तार होता है, अशुभको प्रेरणा मिलती है, वह फिर होनेकी ही नहीं। फिर तो परम शुभ प्रभुमें प्रतिष्ठित होकर हम सदा सबमें शुभका ही वितरण करते रहेंगे।

वास्तवमें सच्ची बात भी यही है कि जहाँ हमें जगत् दीखता है वहाँ सर्वत्र-सर्वथा प्रभु-ही-प्रभु भरे हैं, उनके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। पर हमें ठीक-ठीक ऐसी ही अनुभूति हो तब काम बने। इस अनुभूतिके लिये यह आवश्यक नहीं कि हम खूब पढ़े-लिखे हों। दर्शनशास्त्रका हमारा गम्भीर अध्ययन हो, कई कलाओंके मर्मज्ञ हों, अमुक देशके वासी और अमुक वर्ण-जातिके ही हों। इसके लिये तो आवश्यकता इतनी ही है कि एक तो हमारा इस सिद्धान्तपर सरल विश्वास हो, हमारी बुद्धि इसको असंदिग्ध और निश्चित रूपसे स्वीकार करती हो कि एकमात्र प्रभु ही सर्वत्र अवस्थित हैं, और दूसरी बात यह है कि हम इस भावकी बार-बार आदरपूर्वक, अधिक-से-अधिक आवृत्ति करते रहें। लगनपूर्वक की हुई आवृत्ति कुछ ही दिनोंमें हमारी बुद्धिके निश्चयको मनमें उतार देगी तथा प्रयत्न जारी रहनेपर इन्द्रियोंको भी इस सत्यकी अनुभूति होते देर नहीं लगेगी। किन्तु प्रयत्न हो तब न? यहाँ तो ***'कुएँ भाँग पड़ी'*** की कहावत चरितार्थ हो रही है। आज

समष्टिकी ही प्रवृत्ति प्रायः प्रभुको भूले रहनेकी बन गयी है। हम अधिकांश ऐसे बन गये हैं कि आनन्दस्वरूप प्रभुको भूलकर सुख पानेकी लालसासे दिन-रात जागतिक विषयोंके, जो अनित्य और दुःखमय हैं, पीछे ही दौड़ते रहते हैं, इससे सुख तो हमें कभी मिलता नहीं, पद-पदपर दुःख मिलता है, अच्छी तरह जान लेते हैं कि उनसे सुख मिलनेका नहीं, पर जानकर भी नहीं जान पाते, उन्हें छोड़ना तो दूर उत्तरोत्तर उन्हींमें उलझते जाते हैं। अनादि संस्कारोंसे मनपर मलिनताकी मोटी तह जमा हो गयी है, कभी हमारे विवेकका द्वार खुलता ही नहीं कि जिसके छिद्रसे प्रभुके निर्मल प्रकाशकी किरणें हमारे अन्दर प्रवेश कर सकें, क्षणभरके लिये भी हमें भान नहीं होता कि हमारा कल्याण एकमात्र परम पिता प्रभुसे ही सम्भव है। उन्हें अपने हृदय-मन्दिरमें पधरानेकी वासना ही हममें कभी नहीं जागती, उनसे जुड़नेके लिये हमारा मन कभी लालायित ही नहीं होता। वहाँ तो निरन्तर जागतिक विषयोंके अभावकी आग ही धधकती रहती है। विषयोंकी प्यास कभी शान्त होती ही नहीं, इन्हें एकत्र करनेमें ही जीवन समाप्त हो जाता है, यों कह दें, जीवनभर तालाब खोदते बीत जाता है, पर पानीकी बूँद एक भी नहीं मिलती, प्यास तनिक भी नहीं बुझती—

**कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो।**
**निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ-तहँ इंद्रिन तान्यो॥**
**जदपि बिषय-सँग सह्यो दुसह दुख, बिषम जाल अरुझान्यो।**
**तदपि न तजत मूढ़ ममताबस, जानतहूँ नहिं जान्यो॥**
**जनम अनेक किये नाना बिधि, करम-कीच चित सान्यो।**
**होइ न बिमल बिबेक-नीर-बिनु, बेद-पुरान बखान्यो॥**

**निज हित नाथ पिता गुरु हरिसों हरषि हृदै नहिं आन्यो।**
**तुलसिदास कब तृषा जाय सर खनतहि जनम सिरान्यो॥**

ऐसी हमारी गिरी दशा है। अब हो तो क्या हो! फिर भी यदि हमारा विवेक सर्वथा मर नहीं गया हो, हममें यदि प्रभुके प्रकाशकी क्षीण रेखा भी वर्तमान हो, यदा-कदा भी प्रभुकी स्मृति किसी भी बहानेसे हमारे अन्तःकरणमें जाग उठती हो, जगत्‌में सुख-शान्ति बढ़े, यह शुभ भावना कभी उत्पन्न होती हो तो हमें सावधान होकर अपने विचारोंका संयम करना चाहिये, विकारोंका दमन करनेके प्रयासमें लगना चाहिये। हम तत्परतासे सर्वत्र प्रभुको देखनेका अभ्यास आरम्भ करें। फिर निश्चय ही विकार शान्त होने लगेंगे; शुभ भावनाएँ बढ़ने लगेंगी। घरमें माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर आदि जो भी हों; गाय, घोड़े, कुत्ते आदि पशुओंमेंसे जो भी हमारे आश्रयमें पलते हों तथा बाहर दूकान, पाठशाला, कार्यालय, कचहरी, अस्पताल, बाग-बगीचे, खेत, जङ्गल, नदी, तालाब, कुआँ, खेलके मैदान आदि स्थानोंपर जहाँ कहीं भी जिस किसीके भी सम्पर्कमें आनेका हमारा काम पड़ता हो, उन सबमें हम प्रभुको देखनेका अभ्यास करें। प्रभु ही इस रूपमें हमारे समक्ष उपस्थित हैं, ऐसी भावना करें, इस भावनाकी बारम्बार आवृत्ति करें। फिर हमारी तत्परताके अनुरूप सफलता हमें मिलेगी ही। यदि यह भावना सक्रिय होगी तब तो फल प्रकट होनेमें बहुत ही कम समय लगेगा। सक्रियका अर्थ यह कि भावना यथासम्भव व्यवहारमें उतरे। जैसे पड़ोसका कोई एक व्यक्ति हमारे पास आवे। आते ही हमने भावना की कि प्रभु पधारे हैं। पर इतनेमें ही उसने हमसे किसी वस्तुकी याचना कर दी। वह वस्तु हमारे पास है भी, हमारी आवश्यकतासे अधिक भी है; हम यह भी जानते हैं कि उसे इस

वस्तुकी जरूरत है। पर अपने अन्दर संग्रहकी वृत्ति होनेके कारण अथवा अनुदारताका दोष रहनेके कारण हम देनेमें हिचकिचा जाते हैं या देकर अनुत्साह-पश्चात्तापका अनुभव करते हैं अथवा कुछ दिनोंके बाद दी हुई वस्तुके लिये उसपर अहसान करते हैं तो यहाँ उस पड़ोसीके प्रति की हुई भगवद्भावना सक्रिय नहीं हुई। यदि उसकी याचना सुनकर मन उल्लाससे भर जाता है, यह भावना आती है कि 'नाथ! तुम्हारी कितनी कृपा है जो हमें अपनी सेवाका अवसर देने आये हैं।' तथा यदि वह पड़ोसी कृतज्ञतावश हमारी इस सेवाकी कहीं चर्चा कर दे तो हम सङ्कोचसे गड़ जायँ—हमारी ऐसी दशा है तो वह भावना सक्रिय हुई। थोड़ेमें कहनेपर यह कि हमारे पास जो कुछ है, उसे यथासम्भव, यथायोग्य विश्वरूप प्रभुकी सेवामें लगाकर हम हर्षित हों, उत्तरोत्तर हमारा मन कृतज्ञतासे भरता जाय। तब तो हमारी की हुई प्रभु-भावना सक्रिय है। अन्यथा वह प्रेरणात्मक विचारमात्र (Suggestion) ही है। नहींकी अपेक्षा तो विचारमात्रकी भगवद्भावना भी बहुत सुन्दर है। इससे भी अशुभ विचारोंके प्रवाहमें बड़ी रोक लगती है। पर सच्चा एवं पूरा-पूरा तथा शीघ्र-से-शीघ्र फल तो सक्रिय भावनासे ही प्राप्त होता है।

विकारोंका दमन होनेमें, विचारोंका संयम होनेमें उपर्युक्त उपाय अमोघ है। पर कदाचित् कोई इसपर श्रद्धा न कर सके तो उसे भी अपने एवं जगत्के हितके लिये कम-से-कम दो बातें अवश्य करनी चाहिये—

(१) कोई शुभ भाव, जो सबसे अधिक प्रिय हो, अपने मनके पीछे सदा रखे तथा उस भावके सूचक किसी वाक्यको मन-ही-मन जागनेसे सोनेतक—जब भी अवकाश हो अधिक-से-अधिक स्मरण करे, उसकी अधिक-से-अधिक आवृत्ति करे। जैसे सत्य बोलना प्रिय लगे तो इसका सूचक एक वाक्य **'सत्यं वदिष्यामि'** 'सदा सत्य

बोलूँगा'—इसको बार-बार स्मरण करे। प्रेम करना प्रिय हो तो 'मैं सदा सबसे प्रेम करूँगा!' यह बार-बार स्मरण करे। बार-बार स्मरण करनेका यह परिणाम होगा कि मनमें इसकी आवृत्ति करनेकी आदत पड़ जायगी तथा जब कभी भी हमारा मन खाली होगा, उस समय इस भावका जाप शुरू हो जायगा। और शुभ भावोंकी आवृत्ति होते समय अन्य असद्भाव एवं विकारोंके प्रवेशके लिये अवकाश कम रह जायगा। इस प्रकार जगत्में शुभको बढ़ाने एवं अशुभकी मात्रा घटानेमें हम हेतु बनेंगे।

(२) हम किसी समय निकम्मे नहीं रहें। कुछ-न-कुछ सत्-प्रवृत्तिमें ही यथासम्भव मन एवं शरीर दोनों लगे रहें। निठल्ले मनमें असद्विचारके प्रवेशके लिये बहुत अधिक, शुभ विचारके लिये बहुत कम सम्भावना रहती है।

एक सन्तने कहा है—

'यदि भला न कर सको तो बुरा करनेसे तो बचो।' यह वचन हमारे लिये बहुत महत्त्वका है। शुभका विस्तार यदि हम न कर सकें तो बुराईको तो रोके ही रहें। इसीलिये विचारोंका संयम परम आवश्यक है।

# मनकी सँभाल

जहाँ हमारा मन है, वहीं हम हैं। भले ही हम मन्दिरमें—उपासनागृहमें ही क्यों न बैठे हों, पर यदि हमारा मन कहीं और है—शेयरबाजारमें चक्कर काट रहा है, शेयरके भावोंकी विवेचना कर रहा है, ले-बेच रहा है; घर, दुकान, आफिस, होटल, क्लब, थियेटर आदिका चिन्तन कर रहा है—तो हम उस समय सचमुच मन्दिरमें नहीं, अपितु हमारे चिन्तनके विषयभूत उन-उन स्थानोंमें ही विचर रहे हैं। यह सर्वथा सत्य सिद्धान्त है।

यों तो शरीरसे भी शुभ स्थानपर, शुभ वातावरणमें रहना परम मङ्गलकारी है ही, पर जबतक हमारा मन उसे ग्रहण नहीं करता, तबतक हमारी स्थिति नहीं बदलती, नहीं बदल सकती। हमारी उपासना तभी सच्ची उपासना बनेगी, जब उसमें शारीरिक क्रियाविशेषका नहीं, मनका संयोग होने लगेगा। प्रभुके सामने घुटने टेककर हाथ जोड़कर या किसी आसनविशेषसे बैठकर प्रार्थना करनेकी मुद्रा बड़ी सुन्दर है, पर हमारी प्रार्थना सच्ची तो तब होगी, जब हमारा मन सब ओरसे सिमटकर प्रभुमें ही केन्द्रित होने लगेगा। इसीलिये बाहरी आचार-व्यवहारकी यथाशक्ति पूर्ण रक्षा करते हुए भी प्रधानतासे हमारी शक्ति लगनी चाहिये मनको सँभालनेमें। हमारा मन किस रूपमें हमारे सामने आ रहा है, क्या कर रहा है, अपने लक्ष्यको भूलकर कहीं अन्यत्र भटकने तो नहीं लगा है, इस सँभालकी अत्यधिक आवश्यकता है।

निरन्तर प्रभुका ही चिन्तन होने लग जानेपर तो सँभालका प्रश्न स्वतः समाप्त हो जाता है; किन्तु जबतक क्षणभरके लिये भी मन

विषयाकार होता है, तबतक सावधान रहनेकी आवश्यकता है। हममें भोगोंकी कामना होती है; हम सङ्कल्प करते हैं, अमुक वस्तु है या नहीं, इस प्रकार किसी विषयमें हमें सन्देह होता है। जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, उसके विषयमें भी हम पढ़-सुनकर विश्वास कर लेते हैं कि यह वस्तु निश्चित रूपसे ऐसे है ही अथवा किसी अप्रत्यक्ष वस्तुके प्रति हमारे मनमें सर्वथा अविश्वास रहता है कि वह है ही नहीं; हममें धृतिकी वृत्ति रहती है, इससे विपरीत व्याकुलताका भाव भी रहता है; विविध परिस्थितियोंमें लज्जाकी वृत्ति जाग उठती है; निश्चय कर लेनेकी वृत्ति-बुद्धि भी हममें है; और हमें भय भी होता है। ये सब क्या हैं। इन सब रूपोंमें हमारा मन ही तो व्यक्त हो रहा है—

**कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।** *

अब इन्हीं वृत्तियोंमें, इन्हीं भावनाओंमेंसे यदि हम यथायोग्य किन्हींकी दिशा बदल दें, बदले ही रखें,उनपर प्रभुका रङ्ग चढ़ा दें और किन्हींको शान्त कर दें तो बस, मनकी सँभाल हो गयी। अतएव आइये, इसी उद्देश्यसे यहाँ हम काम—सङ्कल्प आदि मनके स्वरूपोंपर क्रमशः संक्षेपमें कुछ विचार करें।

हमें भोगोंमें कामना क्यों होती है? इसीलिये तो कि हमें उनसे सुख प्राप्त होनेकी सम्भावना दीखती है। फिर क्यों नहीं हम उस वस्तुकी ही कामना करें जो समस्त सुखोंका केन्द्र है, जो समस्त विश्वको सुखका दान करता है, जिस सुखपर ही विश्वके समस्त प्राणियोंका जीवन अवलम्बित है। वह वस्तु तो एकमात्र प्रभुका स्वरूप है। वे प्रभु ही

* बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।३

विश्वको आनन्दका दान करते हैं, **'एष ह्येवानन्दयति।'** * उनके आनन्दका ही किञ्चित् अंश लेकर विश्वके अनन्त प्राणी जीवन धारण करते हैं।

**'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'** †

हम यदि प्रभुको ही चाहने लगें, अपनी कामनाकी दिशा बदल दें, जगत्‌की ओरसे मोड़कर उसे प्रभुकी ओर कर दें, जितनी बार जिस किसी वस्तुके लिये भी कामना उत्पन्न हो, उतनी बार हम उसे प्रभुकी कामनासे ढक दें, हमें तो एकमात्र प्रभु मिल जायँ, उनके अतिरिक्त हमें और कुछ नहीं चाहिये, इस कामनासे ही जगत्‌की अन्य समस्त कामनाओंको तत्परतापूर्वक सम्पुटित करते जायँ तो फिर मनको धो देनेका कार्य आरम्भ हो गया, उसके 'काम' रूपकी सफाई होने लगी—विषयाकारसे वह प्रभुके आकारमें परिणत होने लगा।

सङ्कल्पके प्रवाहको भी हम प्रभुकी ओर कर दें अथवा इसके स्रोतको ही बन्द कर दें। इसके लिये भी उपाय बड़ा सरल है; किन्तु तत्परता एवं अभ्यास यहाँ भी अपेक्षित है ही। जितनी स्फुरणाएँ उठें, उन्हें हम प्रभुको समर्पित करते चले जायँ। 'नाथ ! यह तुम्हें समर्पित है', इस भावनाकी पुट प्रत्येक स्फुरणामें लगा दें। इसका निश्चित परिणाम यह होगा कि नवीन स्फुरणाएँ प्रभुसे सम्बद्ध होकर ही उठेंगी। अथवा हम यह करें कि स्फुरणाओंके द्रष्टा बन जायँ। क्या स्फुरणा हो रही है, हमारा मन क्या कर रहा है, इसे हम स्फुरणाओंसे, मनसे अलग होकर देखने लगें, फिर निश्चय ही स्फुरणाओंका वेग शान्त होने लगेगा, क्रमशः सर्वथा शान्त हो जायगा तथा इस प्रकार प्रभु एवं हमारे बीचका

---

* तैत्तिरीय० २।७

† बृहदारण्यक० ४।३।३२

एक बहुत गहरा आवरण नष्ट हो जायगा।

सन्देहके रूपमें भी हमारा मन ही है। यदि यह सन्देह जागतिक विषयोंको लेकर है तो इसमें विशेष हानि नहीं है, पर यदि यह प्रभुकी सत्ताके सम्बन्धमें है तो इसे तुरन्त ही नष्ट कर देना चाहिये। इसे नष्ट करनेका सर्वोत्तम साधन यह है कि जिनका हृदय प्रभुके आलोकसे आलोकित हो चुका है, ऐसे किसी सन्त महापुरुषका हम सरलभावसे आश्रय ग्रहण कर लें, उनके सङ्गमें रहने लगें। अनिवार्य आवश्यकताकी वृत्तिसे ढूँढ़नेपर कोई-न-कोई महापुरुष हमें निश्चय ही मिलेगा और उसके सङ्गसे हमारे सन्देहकी निवृत्ति होकर ही रहेगी! इतना ही नहीं, हमारे सामने मनका एक निर्मल, सत्त्वपूरित रूप भी आ जायगा, प्रभुमें अडिग श्रद्धा उत्पन्न होगी और यह दृढ़ विश्वास हमारी समस्त विघ्न-बाधाओंको हर लेगा। फिर प्रभुसे मिलन होनेमें देर न लगेगी।

अश्रद्धा (अविश्वास) का प्रश्न कुछ टेढ़ा है। यदि प्रभुकी सत्तामें हमारा विश्वास नहीं, तब हमारे लिये तो सर्वत्र अँधेरा-ही-अँधेरा है। फिर तो जगत्‌के चकाचौंधमें पड़कर हम सर्वथा अन्धे हो जाते हैं। हमारे लिये फिर प्रभु नहीं, परलोक नहीं, फिर तो केवल यह प्रत्यक्षका स्थूल जगत् एवं जगत्‌के भोग ही रह जाते हैं। हमारा वर्तमान जीवन ही हमारे लिये अथ एवं इति बन जाता है। वर्तमान जगत्‌में इसीका बोलबाला है। प्रायः सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें हमें अश्रद्धाका नग्न नृत्य देखनेको मिलता है। इसकी ओषधि भी मुख्यतया एक ही है और वह है प्रभुके परम मङ्गलमय अचिन्त्य विधानसे आये हुए भीषण दुःखोंके थपेड़े। इसकी चोट खानेपर ही हमारी बुद्धि ठिकाने आती है। तभी हम निश्चय कर पाते हैं कि प्रभु हैं एवं जीवनका उद्देश्य जगत्‌के नश्वर भोग

नहीं एकमात्र प्रभुकी प्राप्ति है। तब कहीं जाकर प्रभुकी ओर हमारी गति होती है।

धृतिके रूपमें व्यक्त होनेवाले मनकी भी सँभाल करनेकी आवश्यकता है। हमारी धृति सात्त्विक है, राजस है या तामस—इसे हम अच्छी तरह परख लें। यदि हमारी धृति एकमात्र प्रभुकी प्राप्तिको लक्ष्य बनाकर ही हममें जागरूक है तो वह सात्त्विक धृति है; जागतिक वैभव एवं उनसे प्राप्त होनेवाले सुखको लेकर है तो वह राजस है; पर कहीं निद्रा, तन्द्रा, शोक, विषाद, गर्व आदि तामसिक भावोंको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहनेमें ही हेतु बन रही है तो यह निश्चय ही तामस है। यह परख कर लेनेके बाद हमें राजस, तामस धृतिको तो शीघ्र-से-शीघ्र छोड़ देना है। ग्रहण करनेयोग्य, प्रश्रय देनेयोग्य धृति तो केवल सात्त्विक धृति ही है, जो हमें प्रभुके द्वारतक ले जाती है।

जागतिक वस्तुओंको पानेके लिये तो हममें कई अवसरोंपर बड़ी व्याकुलता होती है, पर प्रभुके लिये हमारा हृदय कभी नहीं रोता। यदि व्याकुलताको ही हम वरण करते हैं, हमें वरण करना है तो क्यों नहीं हम प्रभुके लिये ही रोवें ? इतना रोवें कि हृदयकी सारी मलिनता आँसू बनकर नेत्रोंके पथसे बाहर निकल जाय, हृदय निर्मल—स्वच्छ बन जाय, वहाँ प्रभुके निवास करनेयोग्य परिष्कृत और दैवीगुणोंसे सुसज्जित स्थान बन जाय और प्रभु उसमें आ विराजें।

जब हमारी भूल किसीको दीख जाती है, हमारा पाप प्रकट हो जाता है, तब हमें लज्जा होती है। इसलिये नहीं कि यह भूल हमसे क्यों हुई, ऐसा पाप हमसे क्यों बना, बल्कि इससे कि लोग जान गये, उनपर हमारी नीचता प्रकट हो गयी। यह लज्जा तो किसी कामकी नहीं। लज्जा होनी चाहिये पाप करनेमें, किये हुए पापोंको छिपानेमें,

कोई भी पाप बन जाय तो उसे प्रकट कर देनेमें हमने क्षणभरका भी विलम्ब क्यों कर दिया, इस बातमें। ऐसी लज्जा प्रभुको शीघ्र-से-शीघ्र आकर्षित करनेवाली बन जाती है।

बुद्धि भी सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी हुआ करती है। प्रभुसे मिलन होनेका यह प्रवृत्तिमय मार्ग है, यह निवृत्तिमार्ग है, यह हमारा कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, हमारे लिये भयका कारण क्या है, हमें अभयपदकी प्राप्ति किन-किन उपायोंसे सम्भव है, हम संसारमें बँधे ही क्यों, इससे छूट कैसे जायँ—इन सब बातोंको जो बुद्धि ठीक-ठीक समझती है, वह सात्त्विकी है। धर्म, अधर्म, कर्तव्य, अकर्तव्यको यथार्थ रूपसे न समझनेवाली बुद्धि राजसी है। तथा जो बुद्धि उलटी माननेवाली हो, अधर्मको धर्म, अकर्तव्यको कर्तव्य, दुःखको सुख और अनित्यको नित्य समझती हो, सब कुछ विपरीत भावसे ग्रहण करती हो, वह तामसी है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि राजसी-तामसी बुद्धि तो हमें नीचे नरककुण्डमें ढकेलती है, एवं सात्त्विकी आनन्दमय प्रभुके चरणप्रान्तमें ले जाकर कृतार्थ कर देती है। अतः सात्त्विकी बुद्धि हमें क्षणभरके लिये छोड़ न दे, यह प्रयास सतत होना चाहिये; क्योंकि हमें तो प्रभुके समीप जाना है, हम जा रहे हैं तथा जिस रथपर सवार हुए हम जा रहे हैं, उसपर बुद्धि सारथि जो ठहरी।* यदि सारथि ही रथसे कूद जाय या उन्मत्त हो जाय तो रथ खड्डेमें गिरेगा ही।

भय भी हमें अनेक निमित्तसे होता है, पर यह है सर्वथा मिथ्या। जब सर्वत्र एकमात्र आत्मस्वरूप प्रभु ही सदा विराजित हैं, तब भय किस बातका। अपनेसे अपने-आपको भय होता है क्या ? बिल्कुल

---

* आत्मानँ् रथिनं विद्धि शरीरँ् रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
(कठ० १।३।३)

नहीं होता। अतः इस परम सत्यको स्वीकार कर हम भयकी वृत्तिको सदाके लिये कुचल दें। भय ही करना हो तो यह करें कि कहीं इस परम सत्यकी हमें विस्मृति न हो जाय, क्षणभरके लिये सर्वत्र पूर्ण एकमात्र प्रभुको छोड़कर हम किसी भी स्थानपर जगत्को न देखने लग जायँ। यह एक भय हमें प्रभुसे नित्य-से-नित्य संयोग करानेवाला बन जायगा, हमें सदाके लिये निर्भय कर देगा।

सबका सारांश यह है कि काम-सङ्कल्प आदि भावोंके रूपमें हमारा मन ही व्यक्त होता है। उन-उन अवसरोंपर सावधान रहकर हम मनको सँभालते रहें, क्योंकि मनकी स्थितिपर ही हमारी स्थिति निर्भर करती है। हम हैं प्रभुके सनातन अंश, हम भी हैं सच्चिदानन्दस्वरूप ही, पर इस मनके कारण ही इस स्थूल जगत्में भटक रहे हैं, प्रभुसे अलग होनेका हमें भ्रम हो रहा है। बस, इस मनको जगदाकारसे भगवदाकार बनानेभरकी देर है। फिर तो हम पुकार उठेंगे—

**स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदँ सर्वमिति × × × अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदँ सर्वमिति × × । आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदँ सर्वमिति।**

'वही (प्रभु) नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है और वही यह सब है। मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायीं ओर हूँ, मैं ही बायीं ओर हूँ और मैं ही यह सब हूँ। आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायीं ओर है, आत्मा ही बायीं ओर है और आत्मा ही यह सब है।'

★

॥ श्रीहरिः ॥ 386▲

# सत्सङ्ग-सुधा

एक साधु

# हमारा जगत्

जगत्‌को हम जिस रूपमें देखेंगे, जगत् हमारे लिये ठीक वैसा ही बन जायगा। यदि हम इसे सर्वथा प्रभुसे पूर्ण देखें, प्रत्येक रूपको प्रभुका रूप समझें—जो वास्तवमें सत्य तथ्य है तो हमारे लिये प्रभुसे अतिरिक्त यहाँ अन्य कुछ भी नहीं है। पर कहीं यह हमारा शत्रु, यह मित्र, यह अपना, यह पराया, यह दुष्ट, यह साधु, यह ऊँचा, यह नीचा, यह अमीर, यह गरीब, यह सुन्दर, यह कुत्सित—इस प्रकार अगणित विभिन्न भावोंको स्वीकार कर हम जगत्‌को देखेंगे, तो फिर हमारा जैसा भाव होगा उसीके अनुरूप बनकर वह हमारे सामने आवेगा।

हम तनिक अन्तर्मुख होकर विचार करें तो दीखेगा कि हम जिन्हें शत्रु-मित्र आदि मानते हैं, उन सबमें आत्मारूपसे प्रभु तो एक ही है। आत्मामें, प्रभुमें कोई दोष नहीं, मलिनता नहीं, विकार नहीं। वहाँ तो सर्वथा विशुद्ध एकरस ज्ञान एवं आनन्द भरा है, फिर हम क्यों नहीं अपनी दृष्टि बाहरसे हटाकर आत्मामें, प्रभुमें केन्द्रित कर दें ? यदि हम ऐसा कर सकें तो इसका निश्चित परिणाम यह होगा कि हमारी वह दृष्टि सबके अन्तरमें विराजित प्रभुको बाहर भी व्यक्त कर देगी। दूसरे शब्दोंमें कहनेपर यह कि फिर हमारे लिये शत्रु-मित्र, ऊँच-नीच आदि विभिन्न भावना मिटकर सदा सर्वत्र एकमात्र प्रभु एवं प्रभुकी लीला—बस, इतना ही बच रहेगा।

किंतु हमें अवकाश कहाँ, जो प्रभुकी ओर हम झाँकें। हम तो हाथ धोकर पड़े हैं भोगोंके पीछे। एक कामना उठती है, उसकी पूर्तिके लिये एड़ी-चोटीका पसीना एक कर देते हैं। उसकी पूर्ति होते-न-होते

दस-बीस नयी-नयी कामनाएँ खड़ी हो जाती हैं और हम उनके पीछे पागल हो उठते हैं। धर्म-अधर्म, न्याय-अन्यायके विचारको ताकपर रखकर उनकी पूर्तिके लिये सब कुछ करते रहते हैं। वे यदि पूर्ण होती हैं तो फिर लोभ बढ़ता है, अधिकाधिक मात्रामें उन्हें पानेके लिये हमारा मन लालायित हो जाता है। और कहीं उनकी पूर्तिमें बाधा आ गयी तो क्रोध उत्पन्न होता है। जिसके निमित्तसे बाधा आती है, उसके प्रति हमारे मनमें द्वेष भर जाता है और हम उसे अपनी राहका काँटा समझकर उखाड़ फेंकनेमें जुट पड़ते हैं। इन झंझट-झमेलोंमें ही हम रचे-पचे रहते हैं। यही करते-करते जीवनकी सन्ध्या आ जाती है तथा संस्कारोंके ढेरको और भी बोझिल बनाकर हम यहाँसे विदा हो जाते हैं। जीवनमें हमें बहुत ही कम समय मिलता है जब हम यह सोच सकें—जगत् क्या है, हम कौन हैं, कहाँसे आये हैं, किसलिये आये हैं, क्या करने आये हैं, हममें करनेकी शक्ति कहाँसे आ रही है, उस शक्तिसे हम कर क्या रहे हैं, प्रभुके प्रति भी हमारा कोई कर्तव्य है या नहीं, उनसे जुड़नेकी आवश्यकता भी हमें है या नहीं ? इन प्रश्नोंकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। जाता होता तो न्यूनाधिक मात्रामें हमें भी अवश्य दीखता कि यह जगत् प्रभुमय है—प्रभुका रङ्गमञ्च है, उन्हींके अभिनयका पसारा है। हम भी हैं उन चिदानन्दमय प्रभुके एक अंश, उन विश्वसूत्रधारके इस महान् अभिनयके एक पात्र, अनन्त अपरिसीम आनन्द-सागरमें ही उठी हुई एक तरङ्ग। हम आये हैं प्रभुमें रहकर प्रभुके साथ खेलने, उन्हींके साथ सदा रहकर उनकी सत्ता, शक्ति, स्फूर्ति और प्रेरणासे क्रियाशील होकर खेल-खेलकर उनका ही खेल उनको दिखाने, उनके सौंपे हुए अभिनयको पूर्ण करने। उन्हींकी शक्ति हमारी आँखोंमें सञ्चरित होती है और हमारी आँख इन अगणित

रूपोंको ग्रहण करनेमें समर्थ होती है, उनकी शक्ति पानेपर ही कान, त्वक्, रसना, नासा—ये इन्द्रियाँ क्रमशः अपने-अपने विषय शब्द, स्पर्श, रस, गन्धका अनुभव कर पाती हैं। उनकी शक्तिसे ही हमारे हाथ-पैर स्पन्दित होते हैं, क्रियाशील—गतिशील होते हैं। हमारा मन मनन करता है उनकी शक्तिसे। बुद्धि निश्चय करती है उनकी शक्तिसे। उनकी शक्तिसे ही शक्तिशाली बनकर हम यहाँ निरन्तर खेल रहे हैं। हमारा एकमात्र कर्तव्य ही है कि हम उन विश्वसूत्रधार प्रभुके द्वारा सौंपे हुए अभिनयको उन्हींकी शक्तिके बलपर ठीक-ठीक सुचारुरूपसे पूरा कर दें। साथ ही उनपर, उनके आदेशोंपर दृष्टि रखते हुए ही हम ऐसा करें, अपना एक-एक कर्तव्य पूरा करें। अपने स्वरूपपर तथा प्रभु एवं जगत्के स्वरूपपर विचार करनेका यदि हमें समय होता और हम सचमुच विचार करते तो उपर्युक्त अनुभूति हमें होती ही तथा अन्तमें किसी दिन यह अनुभव भी होकर ही रहता कि 'हम' भी कथनमात्रको हैं, वास्तवमें हैं केवल प्रभु और यह है सब कुछ उनकी लीला।

जो हो, यदि हम अब भी चेत जायँ तो काम बन जाय। प्रातःका भूला सायंकाल भी घर पहुँच जाय तो कोई बात नहीं। जीवनके दिन जो गये सो गये, शेषके एक-एक क्षणका हम सदुपयोग करें। '***गयी सो गयी अब राख रहीको।***' बड़ी तत्परतासे लगकर जगत्के इन अगणित असंख्य विभिन्न बदलते हुए भावोंमें सदा समानरूपसे रहनेवाली सत्ताको, एकरस विराजित सच्चिदानन्दघन प्रभुको हम ढूँढ़ निकालें, उन्हें ढूँढ़कर हम उनमें स्थित हो जायँ। फिर जगत् हमारे लिये और ही बन जायगा। जिसे आज हम चोर-डाकू समझते हैं, जिससे सदा शङ्कित रहते हैं कि हमें लूट न ले, वह व्यक्ति फिर हमारे लिये चोर-डाकू नहीं रहेगा, प्रभु बन जायगा। जो आज हमारा विरोधी है,

प्रतिद्वन्द्वी है, जिसे हम अपनी मान-मर्यादा छीननेवाला मानते हैं, वही हमारे लिये अपना-से-अपना बन जायगा। आज जिसे दुष्ट, पतित मानकर हम घृणा करते हैं, फिर उसे देखकर आदर उमड़ आयेगा। आज किसी धनाढ्य व्यक्तिको देखकर या तो हम ललचा उठते हैं, वैसे ही बननेकी वृत्ति हममें उदय हो जाती है अथवा उसके वैभवको देखकर हमारे हृदयमें आग लग जाती है और उसे गरीबोंका शत्रु पूँजीवादी कहकर मटिया-मेट कर देनेकी योजनामें लग जाते हैं। पर फिर ऐसा नहीं होगा। अपितु ऐसा प्रतीत होगा—प्रभु ही तो इस रूपमें हैं, यह सारा वैभव उन्हींका तो है, हमारा ही है। आज तो यह बात है कि हम मोटरमें बैठे होते हैं, एक कोढ़ी अपने गले हुए हाथोंको हमारे सामने कर अथवा फटे चिथड़ोंसे शरीर ढँके नरकङ्काल बना हुआ एक भिखारी हमें सलाम कर पैसे माँगता है, हम उसे एक-दो बार मना करते हैं। फिर भी जब वह नहीं मानता तो हम या तो उबल पड़ते हैं, और 'अजी, ये सब पेशावाले बदमाश हैं' कहकर घृणा-भर्त्सनासे उसे तर कर देते हैं, या जले-भुने मनसे ही पिण्ड छुड़ानेके लिये एक पैसा फेंक देते हैं। पर फिर ऐसा नहीं कर सकेंगे। वह कोढ़ी, वह भिखारी हमारे लिये वन्दनीय बन जायगा। हम उसे जो कुछ भी दे सकते हैं, देकर यथायोग्य उसकी सेवा कर अपनेको परम कृतार्थ अनुभव करेंगे, आँखें भर आयँगी—'नाथ! तुम्हारा यह स्वाँग कितना विचित्र है!' आज तो हमारी यह दशा है कि हम रेलके डिब्बेमें सफर करते होते हैं, किसी स्टेशनपर बेचारा भोला-भाला कोई ग्रामीण कहीं भी स्थान न पाकर गाड़ी छूटनेकी आशङ्कासे हमारे डिब्बेमें चढ़ना चाहता है, उस समय उसके साथ प्रेमका बर्ताव न कर उसे नीचे धक्का दे देनेमें, डिब्बेके दरवाजेपर पड़ी हुई उसकी गठरीको नीचे फेंक देनेमें हमें तनिक भी

लज्जा नहीं आती, आँखें मटकाकर, हाथ नचाकर खरी-खोटी सुनाते हुए उसपर रोब गाँठकर फाटक बन्द कर लेनेमें हमें गौरवका अनुभव होता है। पर फिर ऐसा व्यवहार हमसे कदापि सम्भव नहीं होगा। फिर तो हमारे लिये बगलकी सीटपर सूट-बूटसे सज्जित गोरे-चिकने चमकते चेहरेवाले हमारे साथी मुसाफिरमें एवं मैले-कुचैले कपड़े पहने खुरदरे मुखवाले उस ग्रामीणमें कोई अन्तर न होगा। दोनोंमें एक ही प्रभु समानरूपसे अवस्थित हैं, यह अनुभूति हमें निरन्तर बनी रहेगी। दोनोंके ही दर्शन हममें समान प्रेम एवं उल्लासका सञ्चार करेंगे, दोनोंके प्रति हमारा विनयपूर्ण आदर्श व्यवहार होगा। आज एक ओर तो यह हाल है कि हम ठूँस-ठूँसकर खाते हैं, अधिक खा-खाकर बीमार पड़ते हैं, हमारे यहाँ पेटियों कपड़े भरे पड़े हैं, प्रातःकालके कपड़े अलग, आफिसके अलग, क्लब जानेके अलग, सोनेके अलग—घड़ी-घड़ी हम पोशाक बदलते रहते हैं। मतलब यह कि बिना हिचकके हम अन्न-वस्त्रका अपव्यय करते हैं तथा दूसरी ओर एक परिवार है, जहाँ किसीको भी पेटमें डालनेके लिये एक मुट्ठी दाना नहीं, अङ्ग ढँकनेको भी पर्याप्त वस्त्र नहीं—अन्न-वस्त्रके लाले पड़ रहे हैं तथा यह सब देख-सुनकर भी हम महलमें बैठे मौज उड़ाते हैं, किन्तु फिर हमसे यह हाल देखा नहीं जायगा। अपना सर्वस्व हम दुःखी अनाथके रूपमें विराजित प्रभुकी सेवामें अर्पण कर देंगे। आज हम जो युवक-युवती हैं, प्रेमी-प्रेमास्पद होनेका दम भरनेवाले हैं, वे सौन्दर्यकी अपनी-अपनी कल्पना कर उसके पीछे पागल हो जाते हैं—युवकके लिये उसकी सौन्दर्य-विषयक कल्पनापर खरी उतरनेवाली युवती, युवतीके लिये उसकी कल्पनाका सुन्दर युवक उन्मादकी वस्तु है। पर फिर हमारी यह दशा होगी कि रूप-यौवनसम्पन्न युवक-युवती तथा घूरेपर पड़ी, खाज

खुजलाती हुई, उड़े हुए बालोंवाली कुतियामें, कुत्तेमें हमें एक प्रभुकी समान सत्ता व्यक्त दीखेगी, हमारा हृदय सुन्दर और वीभत्स दोनों ही रूपोंमें भगवान्‌को देखकर दोनोंको ही यथायोग्य प्यार देनेके लिये निरन्तर प्रस्तुत रहेगा। सौन्दर्यकी हमारी परिभाषा भी जो अब है, उससे सर्वथा दूसरी होगी। थोड़ेमें कहनेपर यह कि फिर हमारे लिये सम्पूर्ण जगत् एवं जगत्‌का व्यवहार ही पलट जायगा। एक ही प्रभु हमें इन अनन्त विभिन्न रूपोंमें और व्यवहारोंमें अनुस्यूत दीखने लगेंगे। सर्वत्र हमारे लिये आनन्द, प्रेम एवं शान्तिका समुद्र लहराता रहेगा। अवश्य ही ऐसा होगा तब, जब हम एक बार यहाँकी इस असीम विषमतासे दृष्टि हटाकर इसकी ओटमें नित्य समभावसे विराजित प्रभुको ढूँढ़ लेंगे और उन्हें पाकर उन्हींमें अविचलरूपसे स्थित हो जायँगे।

ऐसा हो जाना कोई अत्यन्त कठिन हो, सो बात भी नहीं, इसके लिये हमारी सच्ची इच्छा होनी चाहिये। फिर मन धीरे-धीरे बदलने लगेगा। यह सर्वथा सत्य है—

**काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।**

(बृहदारण्यक० ४।४।५)

'यह पुरुष काममय है, जैसी कामनावाला होता है, वैसे निश्चय-वाला होता है, जैसे निश्चयवाला होता है, वैसे कर्म करता है, जैसे कर्म करता है, वैसे फलको प्राप्त होता है।'

अतः सबसे पहले हमारा यह प्रयास होना चाहिये कि 'हमें सर्वत्र प्रभुका साक्षात्कार हो, हमारे चित्तमें यह इच्छा जाग्रत् हो। मौखिक इच्छा तो बहुतोंमें देखी जाती है, पर उससे काम नहीं होता। यह इच्छा ऐसी हो कि इसमें अन्य समस्त इच्छाएँ विलीन हो जायँ। असलमें

इच्छा उत्पन्न होनेमें तथा बढ़नेमें वातावरण ही प्रधान है। जिस वातावरणमें मनुष्य रहेगा, उससे प्रभावित होगा ही। इसलिये हम जिस क्षेत्रमें हों—वकील हों, डाक्टर हों, व्यवसायी हों, दलाल हों, एजेण्ट हों, क्लर्क हों, चपरासी हों, किसान हों, मजदूर हों—कुछ भी हों, उसी क्षेत्रमें प्रतिदिन कुछ समय (भले ही आध घण्टेके लिये ही क्यों न हो) हम ऐसे वातावरणमें अपनेको अवश्य ले जायँ, जहाँ प्रभुसम्बन्धी भाव हममें प्रवेश पा सकें। यह जगन्नियन्ताका अटल नियम है कि जो इस दिशामें बढ़ना चाहता है, उसे पथ दिखाने, आगे बढ़ानेकी व्यवस्था पहले-से-पहले वे कर रखते हैं। हम यदि किसी ऐसे व्यक्तिकी, जो हमें प्रभुके मार्गमें यत्किञ्चित् प्रकाश दे सके, खोजमें लगें तो अपने ही क्षेत्रमें कोई-न-कोई व्यक्ति हमें अपने-आप ही अवश्य मिल जायगा। तथा फिर हम उसका प्रतिदिन आदरपूर्वक सङ्ग करें। उसके सङ्गसे दो लाभ होंगे। एक तो हमारी प्रभुविषयक क्षीण इच्छा पुष्ट होने लगेगी तथा दूसरा यह कि प्रभुकी सर्वत्र सर्वकालीन सत्ताके प्रति हमारी बुद्धिमें निश्चय होने लगेगा। यह दृढ़ निश्चय होनेभरकी देर है, फिर तो अपने अन्दर ही नित्य विराजित प्रभुकी ओर हम बरबस खिंच जायँगे। इसके बाद हमारी क्रियात्मक साधना आरम्भ होगी—हमारी चेष्टाओंका नियन्त्रण हम आरम्भ करेंगे। आज हमारी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक कर्मका उद्देश्य भिन्न-भिन्न होता है। फिर हमारी चेष्टा, समस्त कर्म एक उद्देश्यमें विलीन होने लगेंगे, हमारे द्वारा सब कुछ प्रभुके उद्देश्यसे होने लगेगा। प्रभुको यथावत् जाननेकी, उनसे व्यवधानरहित होकर मिल जानेकी लालसा हमारे अन्दर उत्तरोत्तर बलवती होती जायगी। फिर हमारे और प्रभुके बीच जो 'अहम्' का आवरण है, वह फटकने लगेगा। जैसे मेघ सूर्यसे ही उत्पन्न होता है, सूर्यसे ही प्रकाशित होता है, पर सूर्यके ही

अंशभूत हमारे नेत्रोंके लिये आवरण बन जाता है, उसके (मेघके) बीचमें आ जानेपर हमारे नेत्र अपने अंशी सूर्यको देख नहीं पाते, वैसे ही यह 'अहम्' सचमुच है तो प्रभुका ही एक गुणमात्र—परिणाममात्र। उनकी सत्तासे ही यह प्रकाशित भी है। फिर भी प्रभुके ही अंशभूत आत्माके लिये—हमारे लिये यह बन्धन बन गया है, आवरण बन गया है। 'अहम्' बीचमें आ जानेके कारण ही हम प्रभुको देख नहीं पा रहे हैं, उनसे हमारा अबाध मिलन नहीं हो पा रहा है। उनसे नित्य मिले रहनेपर भी हम अलग-से हो रहे हैं, किन्तु जैसे सूर्यसे उत्पन्न बादलके फट जानेपर नेत्रोंको अपने ही स्वरूपभूत सूर्यके दर्शन होने लगते हैं, वैसे ही जहाँ प्रभुको जाननेकी, उनसे मिलनेकी उत्कट लालसा हुई कि आत्माका—हमारा यह उपाधिभूत अहङ्कार नष्ट होने लगेगा। इसके नष्ट होते ही हमें प्रभुका साक्षात्कार हो जायगा, हम कृतार्थ हो जायँगे—

यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो
ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः॥
घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते
चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा।
यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत्॥

(श्रीमद्भा० १२।४।३२-३३)

जीवनका टिमटिमाता दीप बुझने लगे, उससे पूर्व ही इस दिशामें हमारा पूर्ण प्रयत्न होना चाहिये। अन्यथा हमारे जीवनमें अर्जित संस्कार

यहीं समाप्त हो जायँ यह बात तो है नहीं। ये तो आगे भी साथ चलेंगे। हमारा जो निश्चय यहाँ है, हम जगत्‌को अभी जिस रूपमें देख रहे हैं, उसीके अनुरूप मृत्युके बाद भी देखेंगे। अनेकों अशुभ कल्पनाओंसे जैसे हम यहाँ जलते रहते हैं, वैसे ही आगे भी जलते रहेंगे। अतः बुद्धिमानी इसीमें है कि अभीसे हम जगत्-सम्बन्धी अपने निश्चयको बदल लें, विषमताको हटाकर परम शुभ निश्चयको ही अपने अन्दर स्थान दें, इस अमर वैदिक सन्देशका हम आदर करें—

**यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।**

(छान्दोग्य० ३।१४।१)

'इस लोकमें पुरुष जैसा निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँसे मरकर होता है, इसलिये वह क्रतु यानी पक्का निश्चय करे।'

परम शुभ निश्चय क्या है, कैसे करें, इस सम्बन्धमें भी हमें वहीं * यह सङ्केत मिल जाता है—

**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।**

'यह सब पसारा निस्सन्देह प्रभु ही है। प्रभुसे ही जगत्-उत्पन्न होता है, उन्हींमें विलीन होता है, उन्हींमें चेष्टा करता है। इस प्रकार निश्चय करके मनुष्य शान्तभावसे उपासना करे।'

—★—

* छान्दोग्य० ३।१४।१

# श्रद्धाका बीज बोयें

यदि हम मटरका एक बीज धरतीमें बो देते हैं तो उस एक बीजसे ही मटरका पौधा उत्पन्न हो जाता है, उस पौधेमें सैकड़ों फलियाँ लगती हैं, फिर उन फलियोंसे हजारों मटरके बीज बन जाते हैं। इसी प्रकार हमारी एक छोटी-सी शुभ या अशुभ क्रिया, शुभ या अशुभ संस्कार हजारों शुभ या अशुभके बीज तैयार कर देते हैं। इसके साथ ही जैसे उस मटरके एक बीजको यदि हम काममें न लें, यों ही पड़ा रहने दें, बहुत दिनोंतक जलसे उसका संयोग न होने दें तो धीरे-धीरे उसके अङ्कुरित होनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही हमारे शुभ या अशुभ संस्कारोंको यदि हम क्रियात्मक रूप नहीं दें तो वे भी शनैः-शनैः क्षीण-क्षीणतर होते हुए विनष्ट होने लगते हैं, यह नियम है। इस नियमको ध्यानमें रखकर ही हम अपनी दिनचर्या बनावें, जीवनकी गति-विधिका निर्णय करें।

हम चाहते क्या हैं ? अपने लिये सदा शुभ चाहते हैं। कोई भी मनुष्य अपना तनिक-सा भी अशुभ नहीं चाहता ! इस परिस्थितिमें हमें करना यह होगा कि हम सदा शुभके ही बीज डालें। हमारे मनमें, क्रियामें सदा शुभ ही भरा रहे, भूलकर भी एक भी अशुभ-भावना या क्रियाको हमारे जीवनमें स्थान न मिले। साथ ही हमारा यह प्रयत्न भी हो कि हमारे जितने शुभ संस्कार हों, वे यथासम्भव अधिकाधिक क्रियामें परिणत होते रहें तथा इससे विपरीत एक भी अशुभ संस्कारको कभी व्यक्त होनेका अवसर न दिया जाय। तब काम होगा।

आज हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हम आस्तिक बनें, प्रभुकी सत्तामें हमारा विश्वास हो और यह विश्वास निरन्तर बढ़ता ही रहे, क्योंकि इसी विश्वासकी भित्तिपर ही समस्त शुभकी अट्टालिका खड़ी रहती है। कहनेको तो हममेंसे बहुत लोग अपनेको आस्तिक मानते हैं, पर वह आस्तिकता अपनेको ही धोखा देनेकी-सी वस्तु है। जबतक हमारा मन अत्यन्त मलिन वासनाओंसे भरा है, भाँति-भाँतिकी कामनाओंसे व्याकुल रहता है, क्षुद्र-से-क्षुद्र घटना हमारे अन्दर क्रोधका सञ्चार कर देती है, कितना भी क्यों न मिले कभी सन्तोष होता

ही नहीं, और भी पानेका लोभ बना ही रहता है; बात-बातमें हम ऐंठते रहते है, अकड़के मारे अपने समान दूसरेको गिनते ही नहीं; ज्ञान, विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल, प्रभुत्वके मदमें चूर रहते हैं, मोहके अँधेरेमें ही भटकते रहते हैं, क्या है, क्या नहीं, किसे ग्रहण करना है, किसे ग्रहण नहीं करना है—यह कुछ भी नहीं सूझता; किसीकी थोड़ी भी उन्नति देखनी दूर, सुनकर भी हम जल उठते हैं, परोत्कर्ष तनिक भी सहन नहीं होता, दूसरा कितना भी अच्छा क्यों न हो, उसकी आलोचना किये बिना मन नहीं मानता, उसमें कोई-न-कोई दोष हमें दीख ही जाता है। जबतक हमारी यह दशा है तबतक हम आस्तिक केवल कहनेभरको ही हैं। ऐसी आस्तिकता हमारी ओर आते हुए अशुभके प्रवाहको कदापि नहीं रोक सकती। हमें तो सच्चा आस्तिक बनना पड़ेगा, सच्ची आस्तिकताका बीज बोना पड़ेगा। यह बीज ही फूलेगा-फलेगा, फल-फूलकर हमारे लिये सर्वत्र सब ओर शुभके ढेर एकत्र कर देगा। तभी हम अशुभसे सदाके लिये त्राण पा सकेंगे।

आस्तिकताके बीज बोनेका अर्थ यह है कि हममें जो भी असली-नकली; थोड़ा-बहुत प्रभुका विश्वास है, उसका हम क्रियात्मक प्रयोग करें। यदि हम किसी भी अंशमें आस्तिक हैं तो कम-से-कम चार बातोंपर तो हमें यत्किञ्चित् सैद्धान्तिक विश्वास होना ही चाहिये—

१—प्रभु सर्वत्र हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वे न हों। महान्-से-महान् एवं क्षुद्र-से-क्षुद्रमें वे नित्य स्थित हैं। आकाशमें, वायुमें, अग्निमें, जलमें, पृथ्वीमें, पृथ्वीसे बने पहाड़-पत्थर-ईंटमें, वृक्ष-लता-पौधोंमें, मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग-भृङ्गमें, जड-सी दीखनेवाली कुर्सीमें, टेबिल-पलङ्ग-किवाड़, खूँटी-कल-पुर्जा-धोती-कुर्ते-कमीज-कोट-पतलून-कालर-घड़ी-कलम-दावात-कागजमें—इन समस्त भौतिक विकारोंमें—हमारे सम्पर्कमें आनेवाली इन समस्त वस्तुओंके अणु-अणुमें वे पूर्ण हो रहे हैं। सूक्ष्मभूतमें वे समाये हुये हैं, महत्तत्त्वमें, सत्त्व-रज-तम—तीनों गुणोंमें और गुणोंकी

साम्यावस्था—प्रकृतिमें वे परिपूर्ण हो रहे हैं—

परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु।
भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च॥
गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा।
एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः॥

(श्रीमद्भा० ७। ६। २०-२१)

जो कुछ भी जगत् है, उसके अणु-अणुमें वे व्याप्त हैं—

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईश०)

दूरकी वस्तु छोड़ें, विशाल जगत्, जगत्के तत्त्वोंको भी जाने दें, हम सदा जिससे जुड़े रहते हैं, क्षणभरके लिये भी जिसे नहीं भूल पाते, भूलना नहीं चाहते, जो हमारे लिये अतिशय प्यारकी वस्तु बना हुआ है, उस हमारे शरीरमें भी '**स एष इह प्रविष्टः**।' '**आनखाग्रेभ्यः**' * नखसे शिखापर्यन्त वे पूर्ण हो रहे हैं।

२—वे सर्वसमर्थ हैं। जगत्में जो बात सर्वथा सबके लिये असम्भव मानी जाती है, उसे वे एक क्षणके लाख-करोड़वें हिस्से-जितने समयमें सम्पादित कर सकते हैं। उनकी शक्तिकी कोई सीमा ही नहीं है। '**नात्येति कश्चन**' † उनके शासनका कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता। '**तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्**' ‡ वे ईश्वरोंके भी परम महान् ईश्वर हैं, स्थूल एवं सूक्ष्म जगत्के जितने शासक हैं, उन सबके शासक वे हैं। उनकी शक्ति-सामर्थ्य विचित्र है। सर्वथा विरोधी गुण उनमें एक साथ एक समय वर्तमान रहते हैं। '**तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके**' § एक साथ एक समयमें वे चलते

---

* बृहदारण्यक० १। ४। ७।

† कठ० २। १। ९

‡ श्वेताश्वतर० ६। ७

§ ईश० ५

भी हैं और नहीं भी चलते; वे दूर भी हैं और समीपमें भी हैं। **'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः'** * वे बैठे हुए ही दूर चले जाते हैं, सोते हुए भी सर्वत्र पहुँच जाते हैं। **'अनेजदेकं मनसो जवीयः'** † वे चलनरहित हैं, फिर भी मनसे अधिक वेगवाले हैं। **'तद्धावतोऽन्यान्नत्येति तिष्ठत्'** ‡ वे बैठे रहकर ही दूसरे दौड़नेवालोंसे आगे निकल जाते हैं। ऐसे वे असंख्य विचित्र शक्तियोंसे सम्पन्न हैं।

३—वे सर्वज्ञ हैं। **'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'** § विश्वके गुप्त-से-गुप्त, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कोनेतकमें अनादिकालसे अबतक क्या-क्या हो चुका है, अब क्या हो रहा है एवं अनन्त कालतक क्या होगा—यह सब कुछ वे निरन्तर जानते रहते हैं। **'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः'** + वे प्रभु सबका अनुभव करनेवाले हैं।

४—ऐसे महामहिम होते हुए भी वे हमारे सुहृद् हैं। केवल हमारे ही नहीं, **'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** ÷ समस्त भूतप्राणियोंके सुहृद् हैं।

उपर्युक्त चार बातोंपर हमारा जितना, जैसा विश्वास हो उसका हम अपने जीवनकी दैनिक क्रियाओंमें समावेश करना आरम्भ करें। प्रभुकी सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता एवं सौहार्दपर हमारा जो भी टूटा-फूटा विश्वास हो, उसे हम अपनी क्रियाओंके साथ इस रूपमें जोड़ने लग जायँ—

यह नियम कर लें कि चौबीस घण्टेमें दस-बीस-पचास-सौ बार, जितनी बार एवं जितनी देरके लिये बिलकुल आसानीसे करना सम्भव हो, उतनी बार उतनी देरके लिये ही हम दृढ़तासे यह भावना करें कि

---

* कठ० १। २। २१
† ईश० ४
‡ ईश० ४
§ मुण्डक० १। १। ९
+ बृहदारण्यक० २। ५। १९। ८
÷ गीता ५। २९

'प्रभु सर्वत्र हैं।' और इस भावनाके समय हम जिस-किसी भी व्यक्तिसे जो भी यथायोग्य व्यवहार करें, उसमें ठीक-ठीक उतना ही सम्मान, प्रेम, अपनत्व, त्याग आदिका सच्चा भाव भरा हो, जितना स्वयं प्रभुके समक्ष होनेपर होता। इस भावनाके समय हम जिस-किसी वस्तुको देखें, सुनें, चखें, स्पर्श करें, उसकी गन्ध लें, वहाँ उस वस्तुमें प्रभुकी सत्ताकी इतनी जीवन्त धारणा हो कि उस वस्तुका यथायोग्य उपयोग करते समय हमें उतने ही आनन्दकी अनुभूति होने लगे, जितना साक्षात् प्रभुके सम्पर्कमें आनेपर होनी सम्भव है। एक उदाहरणके द्वारा इसे इस प्रकार समझें। मान लें, हमने यह नियम ले लिया कि प्रतिदिन कम-से-कम बीस बार तीस-तीस सेकण्डके लिये यह भावना करेंगे कि 'प्रभु सर्वत्र हैं', हम ऐसी भावना करने लगे। एक बार भावना करते समय ही हमारा एक नौकर या आफिसका चपरासी गिलासमें जल लेकर हमें जल पिलाने आ गया। अब उस समय हमें ठीक-ठीक यह अनुभव करनेका प्रयास करना चाहिये कि प्रभु जब सर्वत्र हैं, तब इस नौकरमें भी अवश्य-अवश्य हैं ही; अतः नौकर या चपरासीके वेषमें वे ही पधारे हैं। उसके प्रति हमारे मनमें ठीक वैसे ही सम्मान, प्रेम, अपनत्व आदि जाग उठें, जैसे प्रभुको देखकर होते। वे हमारी अपेक्षा किञ्चित् छोटे पदका स्वाँग लेकर आये हैं, इसलिये हम अपने आसनसे उठें तो नहीं, पर हमारा अन्तस्तल तो उनके चरणोंमें लुट जाना चाहिये। हाथमें गिलास लेते समय हमारा रोम-रोम आनन्दसे नाच उठे। इतना ही नहीं, उस गिलासके अणु-अणुमें भी हमें प्रभुकी सत्ताका भान होना चाहिये, गिलासके जलमें भी प्रभुकी ही सत्ता हमें व्यक्त दीखे तथा यह दर्शन हमारे रोम-रोमको आनन्दित कर दे। यदि ऐसी जीवन्त धारणा दिन-रातमें हमने एक बार ही, तीस सेकण्डके लिये ही कर ली तो समझ लें, हमने श्रद्धाका एक बीज तो बो दिया। यह एक बीज ही, अल्पकालके लिये की हुई श्रद्धाकी यह भावना ही, इसमें जितनी जीवनी शक्ति है—इस श्रद्धामें जितनी प्रगाढ़ता है—उसीके अनुपातसे

हमारे लिये कई बीज प्रस्तुत कर देगी, अन्य कई स्थलोंमें ऐसी श्रद्धा उत्पन्न कर देनेमें हेतु बन जायगी। ऐसी श्रद्धा, ऐसी भावना उत्पन्न कर देगी। जितनी बार हम यह बीज बोते जायँगे, उतनी बार उससे कई गुने अधिक बीज हमें प्राप्त होते जायँगे, हमारी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी।

इसी प्रकार प्रभुके सर्वसमर्थतासम्बन्धी विश्वासको भी हम क्रियामें उतारें। यह इस रूपमें कि प्रत्येक कार्य करनेसे पूर्व हम भले ही क्षणभरके लिये क्यों न हो—प्रभुसे प्रार्थना कर ले, प्रभुसे शक्तिकी याचना कर लें। यह ध्रुव सत्य है कि शक्तिके केन्द्र तो प्रभु ही हैं। आज भी हमारे द्वारा जो काम होता है, वह होता है प्रभुकी शक्ति-सामर्थ्यसे ही। पर हमारा अभिमान इस सत्यको हमारे सामने व्यक्त नहीं होने देता, साथ ही अभिमानके कारण ही प्रभुकी शक्तिको पूर्णरूपसे सञ्चारित होनेका मार्ग भी नहीं मिलता। अतः यदि हम प्रत्येक कार्यके आरम्भमें प्रभुकी प्रार्थना कर लें, उनकी शक्ति-सामर्थ्यका आवाहन कर लें तो फिर जो कार्य वर्षोंकि अथक परिश्रमसे न हुआ हो, होता न दीखता हो, वही देखते-देखते पूर्ण हो जायगा। यदि हम इस अभ्यासको अपना लें तो पद-पदपर प्रभुकी सर्वसमर्थताका परिचय हमें मिलने लगेगा। यह नितान्त सत्य है कि कोई भी किसी कार्यमें यदि प्रभुकी प्रार्थना करके लगता है—अवश्य ही वह कार्य शुभमूलक हो, जगत्‌के किसी भी प्राणीके अहितकी भावनासे प्रेरित न हो तो उसमें उसकी आश्चर्यजनक प्रगति होगी। अस्तु, हम भी इस पद्धतिको स्वीकार करें। जितनी बार प्रार्थना करेंगे, उतनी बार प्रभुकी अमित शक्तिका कुछ-न-कुछ परिचय हमें मिलेगा ही, हमारी श्रद्धा पुष्ट होगी ही, इसके बीज बढ़ेंगे ही। हाँ, इस सम्बन्धमें इतनी-सी बात और भी ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है कि जहाँ अश्रद्धाके बड़े-बड़े पुष्ट पेड़ लगे होते हैं, वहाँ क्षणभरकी की हुई प्रार्थनासे उत्पन्न हुई श्रद्धाकी लता, उसके फल एवं फलोंमें समाये हुए श्रद्धाके अनेक बीज एक बार सरसरी दृष्टिसे देखनेपर कभी-कभी नहीं भी दीखते। अतः धैर्यपूर्वक उन्हें ढूँढ़ना चाहिये। ढूँढ़नेपर वे

अवश्य मिलेंगे, क्योंकि प्रत्येक प्रार्थनारूपी जलसे सिञ्चित होकर वे निश्चित रूपसे बढ़ते एवं फूलते-फलते हैं ही। ये बीज जहाँ प्रचुर मात्रामें एकत्र हुए कि फिर तो हमारे जीवनका स्वभाव हो जायगा—प्रत्येक कार्यके लिये प्रभुकी शक्ति-सामर्थ्यपर निर्भर करना, उनकी शक्तिसे शक्तिमान् होकर ही प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त होना। यह कार्य हमारे द्वारा नहीं हो सकता, हमारा यह कार्य कैसे होगा, ये वृत्तियाँ फिर कदापि नहीं उठेंगी। अपितु प्रभुके बलपर क्या नहीं हो सकता, असम्भव सम्भव हो सकता है, यही श्रद्धा सतत जागरूक रहने लगेगी।

प्रभुकी सर्वज्ञताके विश्वासको क्रियात्मक रूप देनेकी आवश्यकता विशेषरूपसे वहाँ उन स्थलोंमें है, जहाँ हम अशुभ प्रवृत्तियोंमें जा गिरते हैं। हमारा अनुभव है कि अत्यधिक अशुभके आचरणसे जब मनपर बहुत अधिक मल एकत्र हो जाता है, तब हम निर्लज्ज हो जाते हैं, हमें खुलकर पाप करनेमें लज्जाकी अनुभूति नहीं होती। किन्तु इससे पूर्व जबतक अन्तरात्माकी ओरका एक भी छिद्र खुला होता है, प्रभुकी प्यारभरी वाणी तनिक भी सुनायी पड़ती रहती है, अशुभमें अशुभ बुद्धि बनी रहती है, तबतक अशुभ आचरणमें लज्जाका अनुभव होता है और हम यथासम्भव छिपकर ही—लोगोंसे छिपाकर ही पापमें प्रवृत्त होते हैं। कोई देख रहा है, जान गया है, यह ज्ञात होनेपर कई बार हमारा बचाव हो जाता है। अतः यदि प्रभुकी सर्वज्ञतापर श्रद्धा करके, यह बीज बोना आरम्भ करके हम अशुभ प्रवृत्तियोंका धीरे-धीरे सङ्कोच करने लगें तो दो लाभ हों—श्रद्धा तो बढ़े ही, क्रमशः अशुभ भी छूट जायँ। इस श्रद्धाको क्रियात्मक रूप देनेका प्रकार यह है कि हम अपनी अशुभ प्रवृत्तियोंकी एक सूची मन-ही-मन तैयार करें। इनमें जिनके प्रति कम-से-कम आकर्षण हो, उन कुछको चुन लें तथा जब जिस समय वे उदय हों, उसी समय दृढ़तासे यह स्मरण करें कि प्रभु इसे जान रहे हैं, वे देख रहे हैं, भले ही जगत्‌का कोई भी न जाने, कोई भी न देखे और सबकी दृष्टिमें हम भले सत्पुरुष—सज्जन बने रहें,

किन्तु प्रभुसे हमारा रूप छिपा नहीं है। इसकी स्मृति आते ही हमें उतनी ही लज्जा होनी चाहिये, जितनी हमारे पाप किसी अन्य व्यक्तिके द्वारा देख लिये जानेपर हमें होती है। साथ ही हठपूर्वक ही सही, एक-दो-चार-दस-बीस बार उन अशुभ प्रवृत्तियोंको हम मूर्त न होने दें, मनतक ही वे सीमित रह जायँ, यह प्रयास करें। इतनेमें तो इस श्रद्धाकी बेल पनप जायगी। फिर तो इसके बढ़े हुए बीज अपेक्षाकृत बहुत बड़े पापोंके समय भी 'अरे ! प्रभु देख रहे हैं, जान रहे हैं' इस स्मृतिको जाग्रत् करने लगेंगे और इस प्रकार एक-दो बार भी जहाँ वे बड़े पाप रुके कि यह श्रद्धा बद्धमूल हो जायगी और क्रमशः शाखा-प्रशाखा निकलकर मनरूपी खेतको छा लेगी।

अन्तमें है प्रभुके सौहार्द-श्रद्धा बढ़नेकी बात, इसे जीवनसे जोड़ देनेकी बात। तो इसके लिये हम यह करें कि कुतर्क छोड़कर प्रभुके स्नेहमय दानको, प्रतिक्षण पद-पदपर आगे-से-आगे हमारी सुख-सुविधाके लिये उनके द्वारा की हुई व्यवस्थाको गिनने लग जायँ। यदि हमारी आँख फूटी न होगी, अजी, ये सब तो संयोगसे यों ही हो जाते हैं, होते रहते हैं, ईश्वर तो वहम है, इस विषके विस्फोटसे नेत्रोंकी ज्योति मारी नहीं गयी होगी तो हमें प्रत्यक्ष दीखेगा कि ओह ! प्रभुके अनन्त असीम उपकारोंकी गणना नहीं हो सकती। ऐसा अहैतुक प्रेमी जगत्में और कोई है ही नहीं। फिर तो हमारी आँखें भर आयेंगी। अपनी नीचता और प्रभुके सौहार्दकी ओर देखते हुए, आँसू ढारते हुए हम भी सन्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीकी भाँति पुकार उठेंगे—'हे नाथ ! मेरे-जैसे नीचको नरककी आगमें ढकेल दो, भस्म हो जाने दो। तुम्हारे-जैसे परम पवित्र सुहृद् स्वामीसे, अकारण हितूसे हठपूर्वक विमुख रहनेवालेके लिये यही उचित है। दस मासतक गर्भमें रखकर

पालन-पोषण किया। मेरा कितना हित तुमने किया है! स्वामिन्! मुझ-जैसे मतिमन्दको भी तुमने विवेक दिया, दुष्टको भी सुन्दर शीलका दानकर भूषित किया। अगणित अपराध करनेपर भी उस ओर न देखकर समाजमें मुझे आदरका पात्र बनाया। फिर भी मैं तो उलटा ही चलता रहा। मेरी मूर्खता तो देखो। प्रभो! अन्तर्यामीके प्रति भी कपट है, सर्वव्यापकसे भी पाप छिपानेका प्रयास है, किन्तु धन्य हो तुम नाथ! इतनेपर भी तुम मुझसे कभी नाराज नहीं हुए। 'ये बड़े भक्त हैं', इसकी आड़में मेरी उदरपूर्ति हो रही है, पर सचमुच हृदयमें तो भक्तिका लेश भी नहीं है। स्वामिन्! हृदय तो विषयोंके हाथ बिक चुका है। फिर भी कृपालो! ओह! ऐसे वञ्चकके प्रति तुम्हारी कृपा तनिक भी कम नहीं हुई, ऐसेके लिये भी तुम्हारे प्रेमका द्वार बन्द नहीं हुआ। सदा मुझपर निष्कपट भावसे स्नेहकी वर्षा करते रहे हो। हाय रे! यह मेरा वज्रसे भी अधिक कठोर हृदय, यह तुम्हारे पल-पलमें किये उपकारोंको भलीभाँति जान-बूझकर, सुन-समझकर भी द्रवित नहीं हुआ। तुम्हारे प्रेमसे सिक्त होकर, फटकर, विगलित होकर बह नहीं चला। मेरे मालिक! सुनो, अपनी बुद्धिरूपी तराजूके एक पलड़ेपर मैंने तुम्हारी भृत्य-वत्सलताकी राशि रख दी और दूसरे पलड़ेपर अपने स्वामिद्रोहका किञ्चित् अंश रख दिया, तौलकर देखने लगा, दीखा—स्वामिद्रोहका ही पलड़ा भारी है। इतनेपर भी तुमने सदा मेरा हित ही किया है, कर रहे हो और आगे भी करोगे। मुझे पता है नाथ! तुम्हारा स्वभाव है—अपनी ओर देखना, दूसरेकी ओर नहीं। अनन्त उपकारसे हम सबको ढक देनेपर भी तुम देते ही जाते हो, तुम्हारे स्नेहमय दानका कभी विराम होता ही नहीं'—

कीजै मोकों जमजातनामई।

राम! तुमसे सुचि सुहृद साहिबहिं, मैं सठ पीठि दई॥

गरभबास दस मास पालि पितु-मातु-रूप हित कीन्हों।

जड़हिं बिबेक, सुसील खलहिं, अपराधिहि आदर दीन्हों॥

कपट करौं अंतरजामिहुँ सों, अघ ब्यापकहि दुरावौं।

ऐसेहु कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावौं॥

उदर भरौं किंकर कहाइ बेंच्यौ बिषयनि हाथ हियो है।

मोसे बंचक को कृपालु छल छाँड़ि कै छोह कियो है॥

पल-पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।

भिद्यो न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ प्रेम सिय-पीके॥

स्वामीकी सेवक-हितता सब, कछु निज साइँ-द्रोहाई।

मैं मति-तुला तौलि देखी भइ मेरेहि दिसि गरुआई॥

एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आये, अरु करिहैं।

तुलसी अपनी ओर जानियत प्रभुहि कनौड़ो भरिहैं॥

इस प्रकार हम उपर्युक्त चारों विश्वासको केवल सिद्धान्तके रूपमें ही सीमित न रखकर उन्हें क्रियात्मक जीवनका अंश बना लें। प्रभुकी सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता एवं असीम सौहार्दकी ओर सक्रिय दृष्टि डालते ही श्रद्धाकी खेती धीरे-धीरे लहलहा उठेगी। उसमें इतने फल लगेंगे; इतने असंख्य बीज एकत्र होंगे कि फिर हम खुले हाथों अपने सम्पर्कमें आनेवाले सबको भगवद्विश्वासके बीजका दान कर सकेंगे। फिर हमारे अन्दर कोई कामना नहीं रहेगी। प्रभुके श्रद्धारूपी खेतीसे हमारी समस्त कामनाएँ सदाके लिये पूर्ण हो जायँगी। फिर हमारे लिये क्रोधका अत्यन्ताभाव हो जायगा; क्योंकि जब काम नहीं तो क्रोध कैसे रहे। लोभ भी निवृत्त हो जायगा। पूर्ण सन्तोषके

अनन्तर लोभके लिये स्थान कहाँ ? फिर हमारे अन्दर मद नहीं, मोह नहीं, ईर्ष्या नहीं, भय नहीं, चिन्ता नहीं, शोक नहीं, जन्म नहीं, मृत्यु नहीं—कोई भी विकार नहीं रहेगा। ये विकार तो अहङ्कारके आश्रित हैं—

**शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।**
**अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः ॥**

(श्रीमद्भा० ११ । २८ । १५)

—जब श्रद्धाकी खेती लहलहा उठी, तब खेतके स्वामी प्रभु भी उस शोभाका आनन्द लेने आ विराजे, उस खेतमें वही प्रकट हो गये। उनके आनेपर अहङ्कार रहता नहीं—

**'जब मैं था तब हरि नहीं, जब हरि हैं मैं नाहिं।'**

अहङ्कार गया कि सारे विकार विलीन हो गये। समस्त अशुभ प्रशान्त हो गये। अवशिष्ट रहे एकमात्र प्रभु। न रहे हम, न रहा हमारे लिये जगत्! इसके पश्चात् जगत्की दृष्टिमें हमारे मन-बुद्धि-शरीरका अस्तित्व भले ही कुछ कालतक रह सकता है। पर उससे भी, वह जितने समयतक रहेगा, निरन्तर भगवद्भावोंका विस्तार होता रहेगा। परम शुभका, प्रभुमें श्रद्धा करनेका, प्रभुसम्बन्धी श्रद्धाके बीजको बोते रहनेका यही परिणाम होता है। इसीलिये हमें श्रद्धाका बीज बोना चाहिये, स्वल्प श्रद्धाको क्रियामें उतारकर उसे सदा बढ़ाते रहना चाहिये।

——★——

# समयका सदुपयोग

जो सुख-दुःखके स्तरसे ऊपर उठ गये हैं, उनकी बात अलग है। अन्यथा हममेंसे ऐसा कोई नहीं जो दुःख चाहता हो। किन्तु हमारे न चाहनेपर भी दुःख तो पिण्ड नहीं छोड़ता। दुःखके लिये हम कोई प्रयत्न नहीं करते, फिर भी दुःखके निमित्त उपस्थित होते ही हैं और अज्ञानवश अपने-आपको उनसे जोड़कर हम दुःखी भी होते ही हैं। ठीक इसी प्रकार यह सनातन नियम है कि इन्द्रियोंसे भोगे जानेवाले विषयसम्बन्धी सुखके निमित्त भी हमारे बिना प्रयत्न किये; हम जहाँ कहीं भी रहें, हमारे सामने आ जायँगे। कर्मजगत्‌के नियमोंसे नियन्त्रित होकर वे भी बिना प्रयास हमें प्राप्त हो जायँगे—

**सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।**
**सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः॥**

(श्रीमद्भा० ७।६।३)

इनके लिये चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं है। भले ही इस सनातन नियमके प्रति हमारी श्रद्धा न हो, हम इसे न मानें, पर मानने न माननेसे सत्यमें हेर-फेर नहीं होता। यह ठीक है कि दृढ़ सङ्कल्पशक्तिसे अनुप्राणित हुए अपने किसी नवीन प्रबल कर्मके द्वारा वैषयिक सुखोंके लिये निमित्तोंकी रचना भी हम कर सकते हैं, यह स्वतन्त्रता हमें प्राप्त है तथा यह स्वतन्त्रता भी कर्मजगत्‌के उस सनातन नियमके अन्तर्गत ही है, हमारा नवीन कर्म तुरन्त नवीन प्रारब्धके रूपमें परिणत होकर निर्दिष्ट प्रारब्धके बीचमें ही अपना फल दान कर सकता है, किन्तु जो फल मिलेगा, वह होगा आखिर नश्वर ही—जीवनके साथ ही समाप्त हो जानेवाला। दूसरे शब्दोंमें इस बातको कहें तो ऐसे कहना चाहिये कि जो वस्तु अपने-आप मिलनेवाली (निर्दिष्ट प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले विषय-सुख) है, उसके लिये तथा जो नवीन चेष्टासे प्राप्त होनेवाली नाशवान् वस्तु (प्रबल क्रियमाणसे सृष्ट हुए तत्काल फलोन्मुख प्रारब्धके सुख) है, उसके लिये—दोनोंके लिये ही चेष्टा करना मानव-जीवनके अमूल्य समयका दुरुपयोग ही है, इन अनमोल

क्षणोंको व्यर्थ खो देना है या कौड़ीके मोल बेच देना है। चेष्टा तो हमें उस वस्तुके लिये करनी चाहिये जो बिना हमारी चेष्टाके अपने-आप हमें मिलनेकी है ही नहीं तथा जो एक बार प्राप्त हो जानेके अनन्तर हमसे कभी पृथक् नहीं होती, मिलते ही हमें सदाके लिये परमानन्दमें निमग्न कर देती है, जिसे प्राप्तकर हम उस सुखका अनुभव करते हैं, जो नित्य एकरस रहता है, जिसमें दुःखका मिश्रण सर्वथा नहीं है। ऐसी वस्तु एकमात्र प्रभुके अतिरिक्त दूसरी है ही नहीं। एकमात्र प्रभु ही ऐसे हैं, जो कर्मोंके फलकी भाँति हमें इस जीवनमें अपने-आप प्राप्त नहीं होंगे। उनके लिये तो हमें विशेष पद्धतिसे कुछ यत्न करना होगा। तभी वे मिलेंगे। और एक बार मिलनेके अनन्तर फिर अलग नहीं होंगे। मिलते ही उनका समग्र आनन्द हमारे अन्दर व्यक्त हो जायगा; हम शाश्वत सुख-शान्तिका अनुभव कर कृतार्थ हो जायँगे तथा इस दिशामें प्रयास ही समयका सच्चा सदुपयोग है।

हममेंसे बहुत-से व्यक्ति ऐसे हैं, जो जीवनकी अतीत घटनाओंका स्मरणकर दिन-रात चिन्तित रहते हैं, भली-बुरी बातें जो घट चुकी हैं, उनसे सुखी-दुःखी होते रहते हैं। यह भी समयका दुरुपयोग ही है। घटनाएँ तो हमारे पूर्वकर्मके अनुसार घटी हैं। उनके लिये जब हमने कारणका निर्माण कर दिया था तब कार्य तो होकर ही रहता। यहाँ एक महलोंमें रहता है, दूसरेके लिये झोपड़ीकी भी व्यवस्था नहीं, एकके यहाँ नष्ट करनेके लिये सम्पत्तिकी राशि एकत्र है, दूसरेके यहाँ पेट भरनेको दाने नहीं, एकका शरीर सदा नीरोग रहता है, सुन्दरता अङ्गोंसे झरती रहती है, दूसरा अन्धा होकर जन्मा, एक पैर भी लँगड़ा था, जीवनभर बीमार भी रहता है, एकके जीवनमें पवित्रता, सद्गुण स्वभावसे ही भरे होते हैं, दूसरेमें क्रूरता एवं पशुभावका ही बोल-बाला

होता है, एकके जीवनपथमें फूल बिछे होते हैं, वह क्रमशः उन्नत ही होता जाता है, सफलता पद-पदपर उसका स्वागत करती है; दूसरेके पथमें काँटे फैले होते हैं, आगेकी गति सदा अवरुद्ध-सी रहती है, उसे सदा निराशा, असफलता, जलन ही हाथ लगती है, एक तो अस्सी-नब्बे वर्षकी आयुका उपभोग करता है, दूसरा उत्पन्न होता है और केवल क्षणभरके लिये संसारका प्रकाश देखकर पुनः मृत्युकी गोदमें समा जाता है। ये सारी बातें अपने-अपने विभिन्न कर्मोंके फलसे घटित होती हैं। इस कर्म-जगत्‌के सनातन नियमोंमें किसीके प्रति अन्याय नहीं होता, पक्षपात नहीं होता। जिसने जैसे बीज बोये हैं, जैसे कर्म सञ्चित किये हैं, वैसे ही फल, उसीके अनुरूप उसके लिये घटनाएँ बनेंगी। सञ्चितके अपार ढेरसे ही तो हमारे इस जीवनका प्रारब्ध बनता है! अपने बोये बीजके, अपने ही कर्मोंके फल ही तो हमें अबतक मिले हैं, उनका मिलना अवश्यम्भावी ही था। फिर वे तो भुगत ही लिये गये, समाप्त हो चुके, उनका खाता पूरा हो चुका। अब उनकी चिन्ता करके हम क्या लाभ पायेंगे। उनका विचार करके हम अपना अनमोल समय क्यों खोयें?

इसी प्रकार भविष्यमें क्या होगा, इसपर विचार करते रहना भी समय खोना है। सच पूछें तो भविष्य तो हमारे अपने हाथोंमें है। उसका निर्माण तो हम कर सकते हैं। यदि हम वर्तमानका सदुपयोग कर लें तो भविष्यका सुन्दर होना निश्चित है। प्रारब्धके वेगसे इस जीवनके अन्तिम क्षणतक अनुकूल-प्रतिकूल निमित्त आकर भले प्राप्त हो जायँ। यदि हम वर्तमानके समयको ठीक-ठीक काममें ले लें तो फिर ये आकर भी हमें एवं हमारे मनको छू नहीं सकेंगे। कदाचित् हमारे मनको छू भी लें तो उसे उद्विग्न नहीं कर सकेंगे, मनमें प्रतिक्षणकी बढ़ती हुई शान्तिके साम्राज्यको ये नष्ट नहीं कर सकेंगे, और इसके बाद—इस जीवनके अनन्तर जो नवजीवन आरम्भ होगा, वहाँ उस भविष्यमें—तो हमारे लिये चिन्ताका कोई कारण ही नहीं रह जायगा। यह नियम है,

गोदाममें भरे हुए मालोंमेंसे वह माल पहले निकलता है, जो अन्तमें भरा जाता है। गोदाममें पहले प्याज-ही-प्याजकी बोरियाँ भरी हों, पर फिर अन्तमें उसमें लगातार सब ओरसे केवल केसरकी बोरियाँ ही भरी जाने लगें तो निकालते समय केसरकी बोरियाँ ही पहले निकलेंगी, केसरके सुवाससे वातावरण सौरभमय हो उठेगा। इसी प्रकार अबसे—इस क्षणसे पहले हमारे कर्मकी गोदाममें चाहे अत्यन्त बुरे कर्मोंके ही संस्कार क्यों न भरे हों, पर हम अब वर्तमानके प्रत्येक क्षणको अबसे आरम्भकर जीवनके अन्ततक, प्रभुकी खोजमें ही, खोजकी साधनामें ही व्यतीत करेंगे तो प्रभुसे ओतप्रोत संस्कार ही सञ्चित होते रहेंगे, नवजीवनका प्रारब्ध इन्हीं संस्कारोंको लेकर निर्मित होगा। और वहाँ इस संस्कारके सुवाससे हम तो निरन्तर प्रफुल्लित, चिन्तारहित रहेंगे ही, हमारे सम्पर्कमें आनेवालेकी भी दुर्गन्धि मिट जायगी। अतः वर्तमानका सदुपयोग करें। अतीत एवं भविष्यकी चिन्ता हम शीघ्र-से-शीघ्र छोड़ दें।

अपने पहलेकी भूलोंको निरन्तर स्मरण रखते हुए पश्चात्तापके विचारमें निमग्न रहना भी समयका सच्चा सदुपयोग नहीं है। हाँ, यदि यह पश्चात्ताप सक्रिय (Positive) हो तब तो यह हमें जीवनके चरम उद्देश्यकी ओर बढ़ानेमें परम सहायक बन जायगा। सक्रिय पश्चात्तापका रूप यह है—जितना बुरा हमने किया है, उससे कई गुना अधिक भला, अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अन्दर अधिक-से-अधिक जितना भला करना सम्भव है, उतना भला हम करें। पत्थरके समान कठोर बनकर यदि हमने बहुतेरे हृदयोंमें घाव किये हैं तो अब मक्खनसे भी अधिक कोमल एवं स्निग्ध बनकर हमें जहाँ-जहाँ घाव दीखें, उन्हें भरनेका सच्चा प्रयास करें। यदि अपनी क्रूर चेष्टाओंसे हमने लोगोंको जलाया है तो अब प्रेमका मधु पिलाकर सबको शीतल करनेका व्रत ले लें। यह हुआ सक्रिय पश्चात्ताप, अन्यथा उन गयी हुई बातोंको याद करते रहनेमात्रसे कोई विशेष लाभ नहीं होता।

जो हो, समयका सच्चा सदुपयोग तो बस यही है कि हम प्रभुकी खोजमें जुट पड़ें, और काम तो जैसे होने होंगे, हो जायँगे। हमारे बिना भी दूसरोंके द्वारा हो जायँगे, पर यह काम तो हमें ही करना पड़ेगा, हमारे ही किये होगा, दूसरा कोई भी हमारे बदले हमारे लिये इसे कर नहीं सकेगा। अतः इसीमें हमें लगना है, उन्हींको ढूँढ़ने चल पड़ना है। इस मार्गमें चलनेपर हमें एक विशेष पद्धतिका अनुसरण करना पड़ेगा। विशेष ढंगसे कुछ यत्न भी करना पड़ेगा, किन्तु साथ ही यह बात अवश्य है कि इसमें कोई खास परिश्रम हो, सो बात बिल्कुल नहीं है, क्योंकि '**आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः**' वे प्रभु तो हम सबके स्वयं आत्मा ही जो ठहरे, उनकी उपस्थिति तो सर्वत्र है। उनको ढूँढ़ लेनेमें, उन अपनेसे अपनेको प्रसन्न कर लेनेमें परिश्रम ही क्या है?

लगन होनेपर पद्धतिका अनुसरण करना भी कोई खास कठिन नहीं है! बस, यही करना है कि सबसे पहले हमें उन्हें प्रत्येक रूपमें पहचानना है। अग्निके तत्त्वको तो हम जानते हैं। एक ही अग्नितत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। जो आग काठमें है, वही पत्थरमें है, वही बादलोंमें है, वही सूर्यमें है, वही हमारे शरीरमें भी व्याप्त है, किन्तु यदि हम यह सोचें कि अग्निका रूप क्या है तो यही कहना पड़ेगा कि अग्नि जिस आधारमें व्याप्त है, वही उसका रूप है। एक ही अग्नि नाना रूपोंमें व्याप्त होकर उनके समान रूपवाला हो रहा है। अग्निमें तत्त्वतः कहीं भी कोई अन्तर नहीं है। ऐसे ही समस्त भूतोंके अन्तरात्मा प्रभु एक होते हुए भी नाना रूपोंमें रहकर उन्हींके-जैसे रूपवाले हो रहे हैं—

**अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो**
**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा**
**रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥**

(कठ० २। २। ९)

इस तत्त्वको अच्छी तरह समझकर हम ठीक ऐसा ही अनुभव

करनेकी चेष्टा करें। साथ ही यदि कदाचित् ऐसा अनुभव न होता हो, तब भी केवल इस सत्यपर विश्वास करके ही हम यह करें कि अपने आसुरभावको दबाकर, दूसरेको नष्ट करके स्वयं सुखी होनेकी भावनाको सर्वथा छोड़कर सब प्राणियोंके प्रति दया एवं सौहार्दका व्यवहार करें। बस, इतनी-सी बात ही अपेक्षित है। यदि हम यह कर सकें तो प्रभुकी प्रसन्नताके दर्शन होनेमें बिलकुल देर नहीं होगी।

**तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।**
**आसुरं भावमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः॥**

(श्रीमद्भा० ७। ६। २४)

और यदि प्रभुकी प्रसन्नता हमने पा ली तो फिर हमारे लिये कौन-सी वस्तु अलभ्य रह जाती है?—

**'तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये'**

—कुछ भी नहीं। कदाचित् शरीर नष्ट होनेसे पहले-पहले हम चेत जाते, चेतकर प्रत्येक क्षणका उपयोग इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये करते तो कितनी सुन्दर बात होती!

# दुःखके कारण

पाँच चीजें ऐसी हैं जो हमारे दुःखको सदा बढ़ाती रहती हैं। यदि यह कह दें कि ये ही पाँच हमारे यहाँके प्रायः समस्त दुःखोंके कारण हैं तो अत्युक्ति नहीं है।

**(१) भगवान्‌के मङ्गलमय दानको अस्वीकार करनेकी वृत्ति**—यहाँ जो कुछ भी हमें फलरूपमें प्राप्त हो रहे हैं, उन सबके आगे-पीछे मङ्गलमय प्रभुका मङ्गलविधान काम करता है। प्रभु हमें जो कुछ भी देते हैं, उसमें हमारा उत्थान होना निश्चित है। हमारे जीवनको नीचे स्तरसे उठाकर अबकी अपेक्षा कहीं अधिक सुख-शान्ति प्रदान करनेके लिये ही प्रभुका प्रत्येक विधान बनता है, किन्तु हम उसे स्वीकार नहीं करना चाहते! जिन्हें प्रभुकी सत्तामें विश्वास नहीं, जो प्रभुको नहीं मानना चाहते, उनकी बात दूर, जो अपनेको आस्तिक कहते हैं, वे भी अपने मनके प्रतिकूल किसी भी विधानको स्वीकार नहीं करना चाहते। मनचाहा होनेपर तो बड़ी आसानीसे कह देंगे कि 'प्रभुकी कृपा है।' पर कहीं मनके विरुद्ध हुआ तो उदासी आये बिना नहीं रहती। वास्तवमें यह प्रभुकी कृपाका अधूरा ही दर्शन है। पूरा दर्शन तो वह है जब कि हमारे लिये कुछ भी प्रतिकूल रहे ही नहीं। प्रभुके विधानसे जो भी हमें मिले, उसे हम अनुकूल बना लें, उसीमें पूर्ण अनुकूलताका दर्शन करें; किन्तु यह होता नहीं। और उधर यह बात है कि चाहे हम रोकर स्वीकार करें या हँसकर, प्रभुका विधान तो हमपर लागू होकर रहेगा। प्रभुके यहाँ भ्रम नहीं, प्रमाद नहीं, पक्षपात नहीं, वहाँ तो अखण्ड स्नेह है, न्याय है, पूर्ण व्यवस्था है। जैसे अबोध शिशुके रोनेकी परवा न कर

माता उसे स्नान कराती है, शरीरपर जमे हुए मैलको मल-मलकर धोती है, उलझे हुए बालोंको ठीक करती है तथा कभी जब यह देख लेती है कि बच्चेके कपड़े जीर्ण हो गये हैं, अथवा अत्यन्त मलिन हो गये हैं तो उन्हें बदल देती है, वैसे ही दयामय प्रभु हमारे रोने-चिल्लानेकी परवा न कर हमें दुःख, विपत्ति, अपमान, निन्दा आदि विधानोंसे परिशुद्ध करते हैं और आवश्यकता होनेपर वस्त्र-परिवर्तनकी भाँति ही हमारे इस शरीरका मलिन आवरण हटाकर नवजीवन प्रदान करते हैं। जैसे माताकी प्रत्येक चेष्टामें बच्चेके प्रति अखण्ड स्नेह-भावना, सर्वथा हित-बुद्धि भरी होती है—शिशु भले ही इसे न समझे वैसे ही प्रभु चाहे जो भी विधान करें उसमें भरा है हमारे प्रति उनका अनन्त अपरिसीम स्नेह, हमारा ऐकान्तिक हित। मा यदि रोनेके भयसे बच्चेको स्वच्छ करना छोड़ दे, तब तो बच्चा जीवित रह चुका! अज्ञतावश रोना तो उसका स्वभाव है। मा उस ओर दृष्टिपात नहीं करेगी। वैसे ही प्रभु हमारे 'धुकुर-पुकुर, हाय रे, मरे रे' की ओर न देखकर हमें शुद्ध करेंगे ही, उनका विधान हमपर चरितार्थ होगा ही! और हम उसे टालनेका जितना प्रयास करेंगे, उतना ही संघर्ष बढ़ेगा और हमारा दुःख बढ़ता ही जायगा। उनके स्नेहमय कोमल हाथोंका स्पर्श भी हमें अवश्य प्राप्त होगा, हम उनकी गोदमें सुखकी नींद सो भी जायँगे तथा जागनेपर हमें उस गत दुःखकी स्मृति भी नहीं रहेगी तथा आयु बढ़नेपर, समझ आ जानेपर तो प्रभुकी सत्तामें निष्ठा हो जानेपर, उनकी मङ्गलमयताका ज्ञान हो जानेपर—हम वैसे विधानोंका उत्फुल्ल होकर स्वागत करेंगे, उनकी प्रतीक्षा करेंगे, विलम्ब होनेपर सन्त कबीरकी भाँति * प्रभुसे प्रार्थना

* कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी सन्त कबीरके जीवनपर एक रचना है, जिसका भाव यह है—कबीरको सिद्ध महात्मा मानकर लोगोंकी भीड़ एकत्र होने लगी। कोई सिद्धि

करेंगे कि 'नाथ ! ऐसी कोई रचना रचो, कोई-सी लीला करो, जिससे हमारी झंझटें दूर हों और वैसी परिस्थिति आनेपर हमारा रोम-रोम खिल उठेगा, किन्तु जबतक ऐसा नहीं हो रहा है, तबतक हमारे लिये एक बार तो दुःखी होना अनिवार्य है। यह है हमारी मूर्खता ही, पर उपाय क्या हो ! प्रभुरूप अनन्त दयामयी जननीके हाथमें हम अपनेको सौंप नहीं देना चाहते, उनकी अनन्त शक्ति, असीम सौहार्दपर हमारा विश्वास जो नहीं होता।

यहाँ इस प्रकृत उदाहरणमें शिशुके पास तो साधन नहीं कि वह माताकी भावनाको हृदयङ्गम कर सके। छः महीनेके बच्चेमें यह बुद्धि कहाँ है ? पर हमारे पास तो साधन भी है। हमारी जो बुद्धि राजनीति,

---

दिखानेको कहता, कोई सन्तानकी माँग करता, तो कोई मन्त्रसे रोग दूर करनेकी याचना करता। इस प्रकार कबीरके एकान्त भजन-साधनमें विघ्न होने लगा। उन्होंने प्रभुसे प्रार्थना की। कुछ ही दिनों बाद गाँवके कुछ ईर्ष्यालु लोगोंने कबीरके विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा, एक कुलटा स्त्रीको सिखा-पढ़ाकर ठीक किया। जब कबीर कपड़ा बेचने बाजारमें आये, तब उसने उनका पल्ला पकड़ लिया और वह उन्हें खरी-खोटी सुनाने लगी। उसका कहना था कि मैं तुम्हारी रखेल स्त्री हूँ और तुमने मुझे छोड़ दिया, मैं कष्ट पा रही हूँ। दुष्टोंका दल पहलेसे तैयार था ही। सब ताली पीटने लगे। कबीरकी खूब निन्दा हुई, पर कबीर प्रसन्न हुए। वे उस स्त्रीको अपने साथ घर ले आये। उसे अपनी माताके समान मानकर आश्रय दिया और उसका आदर-सत्कार करने लगे। स्त्रीके मनमें पश्चात्तापकी आग धधक उठी। सर्वथा झूठा लाञ्छन उसने कबीरपर लगाया था। पर कबीर सदा यही कहते—'मैया ! तू डर मत। तू तो भगवान्‌के यहाँसे मेरे लिये निन्दारूपी उपहार लेकर आयी है।' इसके पश्चात् एक बार काशीनरेशने कबीरकी ख्याति सुनकर उनका दर्शन करना चाहा। कबीरने सोचा—रहा-सहा बखेड़ा भी दूर हो जाय। उसे साथ लेकर वे राज-सभामें गये। स्त्रीको साथ देखकर राजाके मनमें कबीरके प्रति घृणा हुई, कबीर सभासे निकाल दिये गये। कबीर कुटीमें आये। ईर्ष्यालु उन्हें चिढ़ा-चिढ़ाकर हँस रहे थे। पर वह स्त्री कबीरके चरणोंमें लोट गयी, बोली—'मुझ अधमाको अपने साथ रखकर इतना अपमान क्यों सहते हो !' कबीर बोले—'जननी ! तू मेरे प्रभुकी भेजी हुई है, मेरे मालिकका दान है।'

अर्थशास्त्र, गणित, भूगोल, इतिहास एवं विज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोंमें ऊहापोह कर सकती है, वह यदि चाहे तो, इन सबके ऊपर जाकर प्रभुकी सत्ता, मङ्गलमयतापर भी विचार कर सकती है; और यदि पक्षपातशून्य होकर वह उस दिशामें बढ़ेगी, अपने मनमाने सिद्धान्तको ही स्थापित करनेका आग्रह छोड़कर सत्यको सहर्ष आदर देनेके लिये प्रस्तुत होकर अग्रसर होगी तो उसे कुछ-न-कुछ प्रकाश मिलेगा ही। कुछ-न-कुछकी बात इसलिये कि वास्तवमें इस दिशामें श्रद्धाका सम्बन्ध नितान्त आवश्यक है। बुद्धि इस मार्गमें कुछ आगे चलकर कुण्ठित हो जाती है। फिर भी जो पुरुष सत्यको ग्रहण करनेका दृढ़ निश्चय, पक्षपातशून्य निश्चय लेकर चलता है, उसे प्रभुके ही किसी अचिन्त्य विधानके अनुसार किसी छिद्रसे आलोककी कोई क्षीणतम रेखा दीख ही जाती है और कदाचित् उस क्षीण रेखाके सहारे ही वह थोड़ा-सा आगे और बढ़ गया, तब फिर तो उसका काम हो जाता है। उसके लिये श्रद्धाके द्वार अपने-आप खुल जाते हैं। बस, जहाँ श्रद्धाके द्वार खुले कि ज्ञानका पूर्ण आलोक आया। इसके अनन्तर कुछ करना नहीं पड़ता, जो वस्तु यहाँ जिस रूपमें है, वैसी ठीक-ठीक दीखने लग जाती है। प्रभुके अतिरिक्त यहाँ दूसरी वस्तु है ही नहीं, सर्वत्र प्रभु हैं, सर्वत्र आनन्द भरा है, मङ्गल-ही-मङ्गल पूर्ण है। हमारी आँखोंपर अज्ञानरूपी अँधेरेका पर्दा पड़ा है। हम प्रभुको, उनकी नित्य आनन्दमयताको, उनकी मङ्गलमयताको देख नहीं पाते। कहीं ज्ञानका सूर्य उदय हो जाय तो काम हो जाय। यहाँ हम प्रत्यक्ष प्रतिदिन देखते हैं—सूर्योदय हमारी आँखोंपर पड़े हुए अँधेरेके आवरणको हटामात्र देता है, वह किसी वस्तुकी रचना नहीं करता। वैसे ही प्रभुका सम्यक् सुदृढ़ ज्ञान, उनका दिव्यातिदिव्य आलोक जहाँ आया कि वह हमारी

बुद्धिके अनादि अज्ञान-अन्धकारको सदाके लिये नष्ट कर देता है। फिर प्रभु तो हमारे लिये नित्य-निरन्तर यहाँ हैं ही। उनकी रचना थोड़े होनी है।

**यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां**
**तमो निहन्यान्न तु सद् विधत्ते।**
**एवं समीक्षा निपुणा सती मे**
**हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः॥**

(श्रीमद्भा० ११। २८। ३४)

किन्तु हमारा न तो प्रभुपर विश्वास है, न इस दिशामें कोई प्रयत्न ही है। इसीका अनिवार्य परिणाम यह है कि जहाँ तनिक-सा भी कोई प्रतिकूल विधान हमारे सामने आया, आनेकी गन्धमात्र मिली कि हम उसे टालनेकी चेष्टा करते हैं। वह टलता तो है नहीं, केवल सङ्घर्ष बढ़ता है और हम दुःखी होते हैं।

**(२) हमारा मलिन स्वार्थ**—दूसरेका कुछ भी हो, उसका चाहे अहित हो, वह चाहे दुःखी हो, हमारा भला होना चाहिये, हमें सदा सुख मिलना चाहिये। यह भावना हमारे दुःखका दूसरा कारण है। यह एक नित्य सनातन नियम मान लेना चाहिये कि जिसकी ऐसी भावना है उसका भला होनेका ही नहीं है, उसके लिये सुख बहुत दूरकी वस्तु है। सुखका स्वप्न वह भले देख ले, मनके लड्डू खा ले; तथा यह भी सम्भव है—पूर्व अर्जित किसी शुभ कर्मके फलोन्मुख प्रारब्धवश वह यहाँ अभी जगत्‌की दृष्टिमें ऊपरसे सुखमयी परिस्थितियोंसे घिरा दीख पड़े, पर कहीं कोई उसके मनमें प्रवेश करके देखे, उससे मनकी स्थिति पूछकर देखे तो पता चलेगा कि उसके मनमें सुखकी छाया भी नहीं है। वह एक अत्यन्त साधारण स्थितिके मनुष्यकी अपेक्षा भी बहुत अधिक

अशान्त है। आज हममेंसे अधिकांशकी यही दशा है। हम अपना काम बनाना चाहते हैं, दूसरेकी उपेक्षा करते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारा बनता ही नहीं, चाहे हम कितनी ही चेष्टा क्यों न करें और न बननेपर हम दुःखी तो होंगे ही।

जैसा हमारा शरीर है। इसमें आँख, नाक, कान, मुँह, सिर, कण्ठ, हृदय, पेट, कमर, हाथ, पैर आदि विभिन्न अवयव हैं। अब यदि आँख कहे कि हाथ टूटे तो टूटे, पैर कटे तो कटे हम ठीक रहें, कान कहे कि आँख फूटे तो फूट जाय, नाक सड़े तो सड़ जाय, इससे हमारा क्या, हम ठीक बने रहे, तो यह कैसी हास्यास्पद बात है ? एककी हानिका प्रभाव दूसरेपर पड़ेगा कि नहीं ? वैसे ही यह सारा विश्व एक ही प्रभुका शरीर है, हम सभी उस विराट् शरीरके अंश हैं, परस्पर हम सभी जुड़े हुए हैं, सबके हितमें हमारा हित, सबके सुखमें हमारा सुख समाया हुआ है। हमें ऐसी अनुभूति इसलिये नहीं होती कि विषय-व्यामोहमें पड़कर हम पागल हो रहे हैं, हमारी बुद्धि ठिकाने नहीं है। पागल जैसे अपने ही अङ्गोंको काटकर, तरह-तरहकी चेष्टाओंसे उसे विकृतकर सुखी होनेका अनुभव करता है, वही दशा हमारी है। जब हमारा यह पागलपन दूर होगा, प्रभुमें स्थित होकर हम इस जगत्‌को देखेंगे, तब यथार्थ दीखेगा और उस समय, जैसे हम अपने सिर, हाथ आदि अङ्गोंमें 'ये दूसरे हैं' ऐसी भेद-बुद्धि नहीं करते, वैसे ही समस्त भूतप्राणियोंमें ही हम पर-बुद्धि करना छोड़ देंगे। सबके प्रति समान अपनापन होगा—

**यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्।**
**पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः॥**

(श्रीमद्भा० ४।७।५३)

जबतक हमारी यह स्थिति नहीं हो जाती, तबतक 'यह हमारा, यह दूसरेका, हम सुखी रहें, दूसरेसे हमें क्या मतलब ? यह वृत्ति बनी रहेगी और हमें दुःख देती ही रहेगी।'

(२) पद-पदपर भयभीत होना—हमें इतने प्रकारके भय घेरे रहते हैं कि जिनकी गणना सम्भव नहीं। संक्षेपमें कहनेपर हम यों कह सकते हैं कि जो कुछ हमारे पास प्रिय वस्तुएँ वर्तमान हैं, उनमेंसे प्रत्येकके छिन जानेका भय तथा जो-जो हमारी अभिलषित वस्तुएँ हैं जिनके लिये हम प्रयास करते रहते हैं, उनके न मिलनेका भय, इस प्रकार अगणित भय हमारे सामने खड़े रहते हैं, कुछ अव्यक्त चेतनामें कुछ प्रत्यक्ष रूपसे। ऐसी स्थितिमें हम दुःखी न हों तो और क्या हों? पर यह भी है हमारी मूर्खता ही। क्या यह सम्भव है कि परम सुहृद् प्रभु हमारी आवश्यक वस्तु हमसे छीन लें? अथवा हमारी आवश्यक वस्तु हमें न दें? यहाँका कोई सच्चा मित्र भी जब ऐसा नहीं करता, तब जिन प्रभुसे समस्त विश्वमें मित्रभावका संचार होता है, जो समस्त प्रेमभावनाओंके उद्गम हैं, जो सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, जो हमारे मनमें होनेवाले प्रत्येक सूक्ष्मतम स्पन्दनसे भी नित्य परिचित रहते हैं, वे कभी भला ऐसा कर सकते हैं? कभी नहीं करेंगे, कर ही नहीं सकते। निरन्तर देते रहना तो उनका स्वभाव है, हमारे लिये नित्य नव आनन्दका सृजन करना ही उनका काम है। जो वस्तु हमारे लिये अनावश्यक है, हानिकर सिद्ध होने लगती है, उसे वे हटा देते हैं तथा ऐसी वस्तुएँ माँगनेपर भी, चेष्टा करनेपर भी सामने लाकर नहीं रखते—इतना तो अवश्य करते हैं। पर इससे हमें भयभीत क्यों होना चाहिये? बिना हमसे कुछ याचना किये हमारे लिये नित्य-निरन्तर इतनी सुन्दर व्यवस्था करनेवाला, हमारी रक्षा करनेवाला, हमारा अकारण स्नेही मित्र ऐसा कोई दूसरा मिलेगा? किन्तु हमें ऐसी प्रतीति नहीं होती और हम डरते रहते हैं, डर-डरकर दुःखी होते रहते हैं। 'हाय रे, ऐसा हो गया तो फिर क्या होगा! ऐसा नहीं हुआ तो क्या दशा होगी!'—इन चिन्ताओंके जालमें पड़े रहनेके कारण हमारा दुःख प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। प्रतीति हो भी तो कैसे हो। हम प्रभुकी ओर नजर उठाकर देखतेतक नहीं, हमें उनकी आवश्यकता ही अभी नहीं प्रतीत होती!

यदि हम उनकी ओर देखने लग जाते तो प्रत्येक भयके स्थलमें ही, उसके अन्तरालमें उनका हँसता हुआ मुख हमें दीख जाता। फिर भय कहाँ, दुःख कहाँ !

**(४) हमारी प्रमादभरी आदतें**—हमें जो करना चाहिये, वह तो हम करते नहीं और जो नहीं करना चाहिये, वह करते रहते हैं। दुःखका यह चौथा कारण है। यह बात नहीं है कि हमें करने एवं न करनेयोग्यका पता ही नहीं हो। हममेंसे अधिकांशको अधिकांश स्थलपर अपने सहज ज्ञान (Intuition) से यह सङ्केत मिलता रहता है, पर हम उसकी उपेक्षा कर जाते हैं। जो आस्तिक जगत्में रहते हैं, सत्-चर्चा सुनते-कहते हैं, उनको तो यह विशेषरूपसे पता रहता है। ऋषियोंके इन अमर सन्देशोंसे वे प्रायः परिचित रहते हैं—

**सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्।**

'तुम्हें सत्यसे कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये—कभी नहीं डिगना चाहिये। तुम्हें धर्मसे कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। बहाना बनाकर, आलस्यवश धर्मकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। कुशल-शुभ कर्मोंसे तुम्हें प्रमाद नहीं करना चाहिये, प्रभुके द्वारा सौंपे हुए शुभ कर्मोंका त्याग या उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।'

पर हम ऐसे कितने हैं, जो जानते रहनेपर भी, यह सोच-समझ रखनेपर भी ऐसा न करते हों ? विषयोंसे सुख पा लेनेकी लालसामें न जाने कितनी बार, कितनी बुरी तरहसे हम इन नियमोंको तोड़ते हैं। और जैसे—'सड़कसे नीचे दाहिने-बायें मत झुको, गड्ढा है, सर्वथा सीधी राह जाओ।' इस सूचनाकी अवहेलना करनेपर हम नीचे गिरेंगे ही, चोट लगेगी ही, वैसे ही प्रभुके द्वारा स्थापित सनातन नियमोंका उल्लङ्घन चाहे हम लुक-छिपकर करें या भरी सभामें जनमत एकत्र कर सर्वसम्मतिसे उचित सिद्ध कराकर करें, पर हमारा पतन रुक नहीं सकता, सत्पथसे हम दूर हटेंगे ही और दुःखका बोझ उठाना पड़ेगा ही।

**(५) हमारा अहम्भाव**—इसकी अभिव्यक्ति अनेक रूपोंमें

होती है। हमें निमित्त बनाकर कहीं कोई-सी सुन्दर घटना घटित हुई कि हमारा अहम्भाव जाग उठता है। उसका सारा श्रेय हम अकेले ही ले लेना चाहते हैं। 'अजी, मैं नहीं होता तो ऐसा कभी हो ही नहीं सकता।'—इस प्रकार अपनेको सामने रखनेमें हम लज्जाका अनुभव नहीं करते। यदि हम शिष्ट हैं तो हमारे कहनेकी भाषा सुन्दर, शालीन हो सकती है, हमारे उस कथनमें ऊपरसे देखनेपर केवल विनम्रता भरी दीख सकती है तथा कभी-कभी तो जनतापर यह छापतक पड़ सकती है कि हम उस कार्यका श्रेय सर्वथा लेना ही नहीं चाहते, किन्तु असलमें हमारा मन ही जानता है कि हम क्या चाहते हैं। और कभी इससे भी बहुत अधिक सूक्ष्म अभिव्यक्ति इसकी होती है। हम अनुभव करते हैं कि हमें इसका श्रेय नहीं चाहिये, पर बिना माँगे, बिना चाहे हमें जब श्रेय मिलने लगता है, तब हमें सुखकी अनुभूति होती है। यह सुखकी अनुभूति वास्तवमें प्रच्छन्न अहम्भावकी ही अभिव्यक्ति है। जो हो, जाननेकी बात यह है कि चाहे जहाँ, जिस रूपमें, जिस मात्रामें इसकी अभिव्यक्ति होगी, वहाँ उसी रूपमें, उतनी मात्रामें ही हमारे लिये यह अभिव्यक्ति दुःखका सृजन कर ही देगी। हम तनिक सोचें, हमारी जिन इन्द्रियोंकी सहायतासे वह कार्य सम्पन्न हुआ है, जिस मनके विचार उसे सम्पन्न करनेमें हेतु बने हैं, जिस बुद्धिका निश्चय उसे अबतक—सफलताकी सीमातक निभा ले गया है, उन इन्द्रिय-मन-बुद्धिमें शक्ति कहाँसे आयी है? प्रभुकी शक्ति ही तो इन्द्रियोंमें व्यक्त होती रही है, उनकी शक्तिने ही तो वैसे सुन्दर विचार मनमें उद्‌बुद्ध किये थे, बुद्धिकी वह निश्चयात्मिका शक्ति भी तो प्रभुकी ही देन है। फिर हमारा क्या है, जो हम 'अहङ्कार' कर रहे हैं, उस कार्यका श्रेय ले रहे हैं! यहाँ सब कुछ सर्वथा प्रभुकी शक्तिसे ही तो सम्पन्न हो रहा है! पर हम अहङ्कारसे विमूढ़ होकर अपनेको मान बैठते हैं उन सबका कर्ता। इसका परिणाम क्या होगा! हमारे इस अहङ्काररूपी मलिन यन्त्रके द्वारा प्रभुकी पवित्रतम शक्तिका दुरुपयोग हुए बिना रह नहीं सकता।

सदुपयोग तो केवल वहाँ सम्भव है, जहाँ यह अहङ्कार सर्वथा मिट गया होता है, प्रभुकी शक्ति सीधे उतरती होती है, अथवा जहाँ यह अहङ्कार सर्वथा परिशुद्ध होकर प्रभुके पाद-पद्मोंसे लिपट जाता है, मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें प्रभुकी सञ्चारित की हुई शक्तिको वहींसे देखता भर रहता है, देख-देखकर उत्फुल्ल होता रहता है, कभी भूलकर भी हस्तक्षेप करने नहीं आता।

सारांश यह है कि हमारा अहङ्कार पहले तो प्रभुकी शक्तिपरसे उनका नाम पोंछकर अपनी मुहर लगा देता है और फिर उस शक्तिका अपव्यय करता है। अब जगन्नियन्ताकी शक्ति चुराकर उसका अपव्यय करनेका परिणाम दुःखकी सृष्टिके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?

बस, उपर्युक्त पाँच कारणोंमें ही हमारे दुःखके प्रायः सभी कारण समा जाते हैं। ये पाँचों कारण एक-दूसरेसे भिन्न, सर्वथा स्वतन्त्र हों, ऐसी बात नहीं है। पाँचों एक-दूसरेसे मिले-जुले होते हैं, परस्पर रूपान्तरित होते रहते हैं। समझनेके लिये इन पाँच विभागोंमें बाँटकर हम उन्हें अच्छी तरह समझ सकते हैं।

वास्तविक दृष्टिसे विचारनेपर तो दुःख नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। फिर भी, जबतक हम प्रभुमें स्थित नहीं हो जाते, तबतक दुःखकी सत्ताका भ्रम बना ही रहता है। उनमें व्यवस्थित हुए कि दुःखका अत्यन्त अभाव हो जाता है। सूर्यको कभी अन्धकारकी सत्ताका भान है क्या? जहाँ सूर्य है, वहाँ अन्धकार न था, न है, न रहेगा। वैसे ही परमानन्दघन प्रभुके समीप दुःखकी सत्ता है ही नहीं। उनमें तन्मय होते ही हमारे लिये भी दुःख नहीं रहेगा। अभी तो हम उनसे अलग होकर, उनसे मुँह फेरकर अपनी दृष्टि घुमा रहे हैं और इसीलिये—प्रभुके अतिरिक्त और कोई अस्तित्व न होनेपर भी—हमें नाना पदार्थोंके, अनेक विषयोंके दर्शन हो रहे हैं तथा इन विषयोंसे सुख पानेकी जो अपेक्षा है, आशा है, बस, यही दुःख है—

दुःखं कामसुखापेक्षा ··········॥

(श्रीमद्भा० ११।१९।४१)

जिस दिन, जिस क्षण हमने प्रभुको देख लिया, उन्हें जान लिया, बस, उसी क्षण यह विषय-सुखकी अपेक्षा समाप्त हो जायगी; दुःखोंके समस्त कारण मिट जायँगे; हमारे दुःखोंका सदाके लिये अन्त हो जायगा। विषय, नानात्व—ये भी नहीं रहेंगे। रहेंगे केवल एक प्रभु। इसीलिये श्रुति हमें सावधान करती है—

**यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।**
**तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥**

(श्वेताश्वतर० ६ । २०)

'जब मनुष्य आकाशको चमड़ेकी भाँति लपेट ले सकेंगे, तब उन परमदेव परमात्माको जाने बिना भी दुःखका अन्त हो सकेगा।'

यह असम्भव है, पर हम सुननेपर भी सावधान नहीं होते! दुःखके मार्गमें ही आगे-से-आगे बढ़ते चले जाते हैं। भगवान् हमें सद्बुद्धि दें।

★

# काम या प्रेम

बहुत बार हम प्रेमके नामपर कामकी उपासना करते हैं। हमें मलिन काम नचाता रहता है और हम भ्रमवश प्रेमकी निर्मल वेदीपर आत्मोत्सर्ग करनेका दम भरते हैं; जगत्‌के सामने एक परमोज्ज्वल आदर्श स्थापित कर जानेका स्वप्न देखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि केवल अपने-आप ही नहीं गिरते, अपने तथा कल्पित प्रेमास्पदको भी अन्धकारमें घसीट ले जाते हैं। साथ ही इससे जगत्‌में इतने दूषित परमाणु फैल जाते हैं कि वैसे सजातीय मनवाले व्यक्तियोंके भी सुप्त संस्कार जग उठते हैं, उन्हें भी हमारा अनुकरण करनेमें गौरवकी अनुभूति होने लगती है। इस प्रकार प्रेमका निर्मल नाम तो कलङ्कित होता ही है, समाजको, राष्ट्रको, विश्वको, इनमें हमारा जहाँ जैसा जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसके अनुपातसे छिन्न-भिन्न कर देनेमें, इनके लिये अशान्ति, दुःख, विपत्तिका जाल रच देनेमें हम निमित्त बन जाते हैं और यह स्थिति बड़ी दयनीय होती है। अतः प्रारम्भसे ही हमें सावधान होकर बढ़ना चाहिये। हम आत्मनिरीक्षण करते रहें—कामके चङ्गुलमें हैं या प्रेमका निर्मल आकर्षण हमें आकर्षित कर रहा है?

यह बात ध्रुव सत्यरूपमें स्वीकार कर लें कि हम एवं हमारे प्रेमास्पद—इन दोनोंके बीचमें यदि भगवान्‌के लिये स्थान नहीं है, हमारा एवं हमारे किसी भी प्रेमास्पदका पारस्परिक सम्बन्ध प्रभुकी भावनासे शून्य है तो चाहे ऊपरी ठाट-बाट, बाहरका ढंग कितना भी सुन्दर, सुव्यवस्थित, पवित्र क्यों न प्रतीत हो, है वह वास्तवमें कामका ही पसारा। ऐन्द्रिय विषयोंसे पूर्ण, कलुषित मनके द्वारा यथेच्छ स्थापित किये हुए सम्बन्धमें काम भरा हो—इसमें तो कहना ही क्या, जो सम्बन्ध सर्वथा वैधरीतिसे स्थापित हुए हैं, जिनमें कहीं भी, तनिक भी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं हुआ है, उन सम्बन्धोंमें भी प्रेमका भ्रम होता है और वहाँ रहता है काम। भारतके सूक्ष्मदर्शियोंको इसका पूरा पता था। वे इसका विश्लेषण कर गये हैं—

**न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय**

**पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।**

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।६)

'यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है। पुत्रोंके प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय होते हैं।'

यह पढ़-सुनकर एक बार तो ऐसा लगेगा कि यह कैसे हो सकता है? क्या हमारे सभी पारिवारिक, कौटुम्बिक सम्बन्ध प्रेमशून्य हैं? नहीं, यह बात नहीं है परंतु गम्भीरतासे विचारनेपर यह बात अक्षरशः सत्य सिद्ध होगी। विश्वके धरातलपर विभिन्न देश हैं। वहाँके नर-नारियोंके जीवनपर हम सूक्ष्म विचार करें। फिर हमें सन्देह नहीं रहेगा। जबतक हमें अपने सम्बन्धियोंसे सुख मिलनेकी सम्भावना रहती है, सुख मिलता रहता है, तबतक प्रेम-सूत्र जुड़ा रहता है। सुखकी आशा मिटी, सुख मिलना बन्द हो गया कि बस, प्रेम भी टूट गया। न टूटा तो शिथिल तो हो ही जायगा।

इसीलिये ऋषियोंने सुन्दर मर्यादा बाँधी थी, इन समस्त काममूलक सम्बन्धोंको भगवत्प्रेममें परिणत कर देनेकी सरल एवं अत्यन्त सुन्दर व्यवस्था कर दी थी। वे आदेश दे गये थे—पत्नीको चाहिये कि वह अपने पतिको प्रभुका रूप मानकर ही उससे प्रेम करे, पतिको चाहिये कि अपनी पत्नीको वह प्रभुका ही रूप समझे। पुत्र पितामें प्रभुकी ही भावना करके उनकी सेवा करे। पिता अपने पुत्रको प्रभुकी अभिव्यक्ति मानकर ही उसका संलालन करे। जहाँ जिससे सम्बन्ध हो, उसमें एकमात्र प्रभुको ही अभिव्यक्त देखकर, इस अनुभूतिको सतत बनाये रखकर ही यथायोग्य सेवामें प्रवृत्त हो। इस

भावनाका यह निश्चित परिणाम होना ही है कि बहुत शीघ्र ही हमारा अहङ्कार विगलित हो जायगा; हमारे अन्दर जो स्पर्धाकी वृत्ति है, दूसरेको फलते-फूलते देखकर हम जो ईर्ष्या करने लगते हैं, यह नष्ट हो जायगी; असूया (परदोषदर्शन) की वृत्ति भी समाप्त हो जायगी; आज जो हम गर्वमें भरकर लोगोंका तिरस्कार कर बैठते हैं, यह भी नहीं रहेगा—

**नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।**
**स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥**

(श्रीमद्भा० ११। २९। १५)

तात्पर्य यह कि अनादि संस्कारवश, कर्मवश जब हम जगत्‌में हैं, तब हमारा लोगोंसे सम्बन्ध हुए बिना रह नहीं सकता। पर यदि हम ऋषियोंकी बाँधी हुई मर्यादाका अनुसरण करें तो इन काममूलक सम्बन्धोंका कोई दोष हमें स्पर्श नहीं कर सकेगा, अपितु हम अपने जीवनके चरम उद्देश्यको भी प्राप्त कर लेंगे। विषको शोधकर हम अमृत बना लेंगे, हमारे इस काम-सम्बन्धका पर्यवसान भगवत्प्रेममें हो जायगा। पर होगा तब, जब हम करना चाहेंगे। कहीं आजकी भाँति प्रेमका स्वाँग रचने जायँगे, कामका जो प्रवाह बह रहा है, उसीमें सुखका अनुभव कर, प्रभुको बीचमेंसे अलगकर हम भी बह चलेंगे तब तो हो चुका! आज क्या हो रहा है? जरा पाश्चात्त्य देशोंकी ओर दृष्टि उठाकर देखें—यौवनके उन्मादमें युवक-युवती परस्पर मिलते हैं, परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित करते हैं। उन्मादकी दूसरी लहर उठनेतक न जाने प्रेमका कितना, कैसा सुन्दर अभिनय चलता रहता है। पर स्वार्थका एक हलका-सा झोंका लगा; अपेक्षाकृत तनिक-सा अधिक सुन्दर सुखका दूसरा साधन सामने उपस्थित हुआ कि समस्त प्रेम क्षणभरमें हवा हो जाता है। पत्नी दूसरा पति वरण करती है, पति दूसरी पत्नी स्वीकार करता है। यहाँ भी जो मन पहले था, वह तो ज्यों-का-त्यों ही रहता है; यहाँ भी ठेस लगते देर नहीं लगती तथा इसे

भी छोड़कर नया सम्बन्ध स्थापित होता है। एक-दो-तीन-चार—न जाने कितने परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक सम्बन्धके आरम्भमें ही प्रेमका नाटक तो ठीक-ठीक साङ्गोपाङ्ग ही पूर्ण होता है। ऊपरसे देखनेपर ठीक ऐसा लगता है मानो सचमुच ही इस बार दो हृदय सदाके लिये एक होने जा रहे हैं। पर होता वही है जो कामके क्षेत्रमें सदा हुआ करता है। दूसरा प्रलोभन आता ही है तथा दोनों नये सुखकी खोजमें नया सम्बन्ध ढूँढ़ने चल पड़ते हैं और मजा यह है कि ऐसा होना, ऐसा करना सभ्यताका अङ्ग माना जाने लगा है; इसका विरोध करनेवाले, सत्यको सामने रखनेवाले व्यक्ति पिछड़े हुए समझे जाते हैं। भारतवर्षपर भी इस उन्मादी लहरकी छाया पड़ने लगी है। इसका कुछ-कुछ नमूना हम अपने स्कूल-कालेजोंके छात्र-छात्राओंमें, उच्छृङ्खल युवक-युवतियोंमें देख सकते हैं। हमारे ऋषियोंने जो सुन्दर मर्यादा बाँधी थी, प्रत्येक काममूलक सम्बन्धको ही विशुद्धतम बना देनेकी जो उनकी व्यवस्था थी, उसके प्रति हमारे अधिकांश शिक्षित युवक-युवतीवर्गका आदर नहीं रहा है। अपने अतीतके गौरवमय अध्यात्मप्रवण इतिहासको वे अविकसित पुरुषोंका जीवन मानने लगे हैं। उनका आदर्श बन रहा है आजका वह समाज, जो भोग भोगनेकी पूरी स्वतन्त्रता देता है, जहाँ जिसमें नाना प्रकारके विषयोंको प्राप्त करनेकी, विषयोंका उपभोग करनेकी घुड़दौड़ मच रही है। इस आदर्शके अनुरूप ही वे अपना जीवन-निर्माण करने जाते हैं। उन्हें पुरानी बातें पसन्द नहीं, उन्हें तो नवीनता चाहिये, विकसित युगकी बातें ही वे ग्रहण करेंगे और इसीलिये उनके प्रेमका क्षेत्र भी इस युगके अनुरूप ही होता है। कामके नग्न नृत्यको ही वे प्रेमका विलास मानते हैं और उस प्रेमकी वेदीपर बलिदान होनेमें अपनेको अत्यन्त गौरवान्वित अनुभव करते हैं। यह है आजकी दशा!

जो हो, हममेंसे जिनका विवेक सर्वथा मर नहीं गया है, जो अपने जीवनको केवल अपने लिये ही नहीं—समाज, राष्ट्र, विश्वके हितके

दृष्टिसे भी उन्नत देखना चाहते हैं, उन्हें तो सावधान ही होना चाहिये। हम कहीं भी प्रेम-सम्बन्ध स्थापित क्यों न करें, सबसे पहले वहाँ प्रभुको लाकर खड़ा करें। इस रूपमें प्रभु ही हमारे सामने हैं, यह भावना अक्षुण्ण बनी रहे अन्यथा इस भावनासे रहित कोई भी सम्बन्ध काममय सम्बन्धमें परिणत हुए बिना नहीं रहेगा। भले ही उसका प्रारम्भिक रूप कितना भी पवित्र, कैसा भी सुन्दर क्यों न हो तथा इस भावनाके साथ ही बहुत नहीं तो कम-से-कम एक बातका और ध्यान रखें। प्रेममें स्वार्थ साधनेकी वृत्ति, किसी प्रकारकी भी स्वसुखभावना—हमें प्रेमास्पदके द्वारा सुख मिले—यह भावना नहीं रह सकती। विशुद्ध प्रेममें तो अपना सर्वस्व समर्पण कर प्रेमास्पदको सुखी करनेकी ही वासना रहती है, उससे सुख पानेकी नहीं। जहाँ स्वयं सुख पानेकी इच्छा है, वहाँ प्रेम नहीं—काम है, यह मान लेना चाहिये, किन्तु हम इस सम्बन्धमें बहुत बार धोखा खा जाते हैं। हमारा अहंभाव हमें ठगता रहता है। हम समझते हैं, हम तो प्रेम कर रहे हैं, हमारे मनमें एकमात्र प्रेमास्पदके सुखकी ही वासना है, पर वास्तवमें हम करते रहते हैं कामकी उपासना, हमारे अन्दर भरी होती है प्रेमास्पदसे स्वयं सुख पानेकी छिपी लालसा। इस भ्रमजालको भी हमें अवश्य तोड़ देना है, इस छिपे स्वार्थकी, स्वसुखलाभकी वृत्तिको शीघ्र-से-शीघ्र कुचल देना है। यह कुछ कठिन अवश्य है, पर करनेसे क्या नहीं होता! कामको—स्वसुखवासनाको प्रेमका स्वाँग देकर हमारे सामने रखनेवाली अहंताको हम एक बार ठीकसे पहचान लें तथा पहचानकर निरन्तर सजग बने रहें। अपने किसी भी प्रेमके सम्बन्धमें हमें अपने अन्दर उसकी तनिक भी गन्ध मिले कि बस, उसी क्षण इसे विशुद्ध प्रेमके निर्मल सुवाससे ढक दें, हमारा प्यारा सुखी हो, हमें इसके

अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहिये—इस परम पुनीत सरस सुरभित भावनाको जाग्रत्कर अन्य समस्त वृत्तियोंको शान्त कर दें। एक बार, दस बार, सौ बार, हजार बार—जितनी बार हमारी वह अहंता, कामकी माया—अँधेरा फैलावे, उतनी बार हम विशुद्ध प्रेम-प्रदीपकी लौको तेजकर, उसके आलोकमें प्रेमास्पदको देखने लग जायँ। फिर तो क्रमशः वह ज्योति, उज्ज्वल, उज्ज्वलतर होती जायगी, एवं अँधेरा क्षीण-क्षीणतर होता जायगा। किसी दिन यह अँधेरा सर्वथा, सदाके लिये विलुप्त हो जायगा। और बच रहेगा एकमात्र हमारा प्रेमास्पद। प्रेमास्पद कौन? प्रभु! इसी स्थितिका सङ्केत इन श्रुतियोंमें प्राप्त होता है—

**यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा।**

(छान्दोग्य० ७। २४। १)

'जहाँ दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता, वही भूमा (प्रभु) है।'

प्रेम एवं कामका अन्तर हमारे आचार्योंने विस्तृतरूपसे बताया है। प्रेमके महामहिम पुजारियोंने सूक्ष्म विवेचनके द्वारा समझाया है—किस प्रकार हमारी अहंता कामको प्रेमकी पोशाक पहना देती है। पर उनके विवेचनको, उनके दिये हुए दिव्य उदाहरणोंको हम हृदयङ्गम कर सकें—यह भी बड़ा कठिन है। कामसे अभिभूत हुए हमारे मनमें उन दिव्य भावोंके लिये स्थान ही नहीं, कामका इतना गहरा काला रङ्ग हममेंसे अधिकांशके ऊपर चढ़ गया है। उनका तो उल्लेख ही व्यर्थ है। पर हम जहाँ हैं, हमारा मस्तिष्क जिस धरातलपर क्रियाशील है, उसके अनुरूप विवेचन भी यदि हम ग्रहण करना चाहेंगे तो हमें मिल सकते हैं। एक पाश्चात्त्य सन्तने प्रच्छन्न कामका जाल रचनेवाली मनुष्यकी अहंताका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। यदि हम उन

सन्तकी इन थोड़ी-सी बातोंको ही समझ लें, ग्रहण कर लें और फिर उनके सहारे आत्मनिरीक्षण करते हुए ऊपर उठने लग जायँ तो सचमुच देखते-ही-देखते ऊपर उठ ही जायँ। हमारा काम बन जाय, स्वार्थकी वृत्तिपर हम विजय पा लें, अहंताके भ्रममें फिर न फँसें। वे सन्त कहते हैं—

'अहङ्कारका एक रूप और है, जो इतना प्रच्छन्न रहता है कि ऊपरसे अहङ्कारका अत्यन्त विरोधी भाव प्रतीत होता है। इस प्रकारके अहङ्कारसे, उनकी छद्मवेषताके कारण हमें सजग होकर अपनी रक्षा करनी चाहिये। यह अहङ्कार प्रायः प्रेमके साथ देखनेको मिलता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रेमसे स्त्री-पुरुषके दाम्पत्य-प्रणयका ही अर्थ ग्रहण किया जाय; किन्तु फिर भी न्यूनाधिक रूपमें प्रबल प्रेमसे तो आशय है ही। अहङ्कारके अन्य रूपोंकी भाँति इसमें भी स्वार्थ एवं अहम्मन्यतासे सम्बन्ध रहता है, पर यहाँ इन दोनोंका वेश ऐसा बदला रहता है कि सुतीक्ष्ण दृष्टिके बिना उनको देखना असम्भव है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक स्त्री अपनी किसी सखीको इतना प्यार करती है मानो उसकी पूजा-सी करती है। अपनी सखीके लिये जो-जो करना सम्भव प्रतीत होता है, उसे करनेमें अपना सारा समय व्यय करती है। उसको मिठाई और फूल देने, उसके लिये सुन्दर-सुन्दर लहँगे आदि बनाने, उसके पास असंख्य सन्देश भेजने, उसके फटे कपड़ोंको ठीक करनेसे लेकर उसके केशप्रसाधन आदिमें सहायता करनेतकके सभी कर्मोंको वह करती रहती है। प्रेमके इस प्रचुर प्रदर्शनको देखकर कुछ लोग कहेंगे, 'अहा ! कैसी आराधना है। कितना हृदयस्पर्शी ! कितना सुन्दर ! कैसा निःस्वार्थ प्रेम है !' परन्तु क्या सचमुच यह निःस्वार्थ प्रेम है ? जब यह परमासक्त स्त्री सुनती है—

किसीने उसकी सखीको मिठाइयाँ दी हैं, उनके लिये कुछ और भी किया है—उस समय यह सुनकर उसे पूर्ण सुखकी अनुभूति होती है क्या? उसका चित्त बिलकुल शान्त रहता है क्या? उसके मनमें तो एक विकलता उत्पन्न हो जाती है, जिसको वह बता तो नहीं सकती, पर उससे उसका मन अस्थिर हो जाता है और उसके जीवनमें उल्लास बरसानेवाली ज्योत्स्ना कुछ मन्द पड़ जाती है। न जाने क्यों वह सोच लेती है कि दूसरोंकी दी हुई मिठाइयोंमें उतना स्वाद नहीं होना चाहिये जितना उसकी मिठाईमें है। दूसरोंका सन्देशवहन उतना सफल नहीं होना चाहिये जितना उसका; दूसरोंके दिये हुए केश धोनेवाले चूर्णोंमें उतना असर या सुगन्ध न होना चाहिये जितना उसके दिये हुए चूर्णोंमें। इसी प्रकार अन्य बातोंमें भी उसे दूसरेका हस्तक्षेप नहीं सुहाता। अब कल्पना करें कि कोई अदृश्य व्यक्ति उससे प्रश्न करता है, 'क्यों जी! क्या तुम नहीं चाहती कि तुम्हारी सखी सुखी रहे?' फिर तो वह प्रेमातिरेकसे उत्तर देगी—'कौन कहता है?' मैं तो दिनभर उसे सुखी करनेकी चेष्टामें निरत रहनेके अतिरिक्त और कुछ करती ही नहीं। उसके सुखके लिये तो मैं अपने प्राणोंकी भी बलि दे सकती हूँ।' और कहीं वह अदृश्य स्वर पुनः पूछ बैठे—'फिर उसको किसी दूसरी सखीके द्वारा सुख मिलनेपर तुम अशान्त क्यों होती हो?' अब यहाँ तो बस, मौन है। कोई उत्तर नहीं।

"बात क्या है! यह सारी स्वार्थहीनता केवल मिथ्या स्वार्थहीनता है। वास्तवमें यह रूप बदले हुए अहङ्कार है। जबतक वह परमासक्त स्त्री अपनी सखीको सुख देनेका कार्य स्वयं सम्पन्न करती है, आनन्द-ही-आनन्द है, किन्तु जहाँ किसी दूसरेने उसे वैसे ही सुख पहुँचाया कि बस, दुःख होने लगता है। जिस प्रकार ईर्ष्याका वास्तविक कारण

अहम्मन्यता है, उसी प्रकार यहाँ भी देनेका एकमात्र अधिकार अपनेमें ही सुरक्षित रखनेकी इच्छा भी अहम्मन्यतासे ही उत्पन्न होती है। यह कहना अनावश्यक है कि जहाँ कहीं भी अहम्मन्यता है, वहाँ अहङ्कार है ही; क्योंकि दूसरा पहलेकी ही एक वृत्ति है। यह कहा जाता है, 'वह धन्य है जो प्रसन्नतापूर्वक देता है।' परन्तु कभी-कभी ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा कि 'दूसरे व्यक्ति दे सकें, प्रसन्नतापूर्वक दूसरोंको यह आज्ञा दे देनेवाला धन्य है।' हमें इसकी चिन्ता क्यों हो कि हमारे प्रेमास्पदको सुख किससे मिलता है! मुख्य बात तो यह है कि स्वार्थहीनता तथा मिथ्या स्वार्थपूर्ण प्रेमके उदाहरण बहुत हैं। इसकी झलक नाना प्रकारके सम्बन्धोंमें दीख पड़ती है—जैसे माता-पुत्रोंमें, मा-बेटियोंमें, पति-पत्नियोंमें और दो प्रेमियोंमें।''

इसके पश्चात् वे सन्त पाश्चात्त्य देशकी सभ्यताके अनुरूप युवक-युवतियोंमें परस्पर होनेवाले प्रेमका, उनके वैवाहिक सम्बन्धका आदि-अन्त चित्रित कर स्पष्ट कर देते हैं कि किस प्रकार इसमें स्वार्थका नग्न नृत्य भरा होता है। आज भारतके युवक-युवती अपने पुनीत सिद्धान्तसे, धर्ममय मर्यादासे च्युत होकर, व्यामोहमें पड़कर जिस प्रेमका अनुकरण करनेमें गौरवकी अनुभूति करते हैं, वह वास्तवमें कितना मलिन स्वार्थमय सम्बन्ध है—यह सन्तके उस वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है। वे बतलाते हैं—

''प्रदर्शन-प्रिय प्रेमियोंकी तो एक जाति होती है, जो इसका पूरा-पूरा चित्र खड़ा कर देती है। इस प्रकारका प्रेमी (कल्पना कर लें आप स्त्री हैं तो) आपके लिये दिनमें बीसों बार मरनेको तैयार रहेगा। ××××× आपको अनुभव होगा—इसके पूर्व संसारमें कभी भी किसीने भी आपको इतना प्यार नहीं किया, आपकी इतनी पूछ कभी

नहीं हुई और किसीके लिये भी आप उसके जीवनकी इतनी आवश्यक वस्तु सिद्ध नहीं हुई। उसके मुखसे प्रवाहित होनेवाली स्नेहस्यन्दिनी वाणी आपको सातवें आसमानपर चढ़ा देगी। आप बार-बार उसके मुखसे सुनेंगी—'प्रिये! विधाताका सम्पूर्ण कौशल तुम्हारी रचनामें ही व्यक्त हुआ है, कहीं भी, किसी भी दृष्टिसे कोई कसर नहीं रही; तुम तो पूर्णताकी खान हो।' तथा इस प्रकार अपना समादर करनेवाले, अपनेसे इतना प्रेम करनेवाले व्यक्तिको पाकर आप सुखमय आश्चर्यमें डूब जायँगी। ×××× ठीक भी है, इसमें सन्देह नहीं कि यह सुख अपूर्व है। किन्तु अफीम खानेवालेके भी आरम्भकालीन स्वप्न ऐसे ही होते हैं—मत्त आह्लादपूर्ण, चमचमाते हुए मनोराज्य! पर इसमें पीछे प्रतीत होनेवाली कमियोंका क्या रूप है? आपको पता लगने लगता है कि इस प्रकारसे अत्यन्त चाहे जानेमें भी कोरी मिठास-ही-मिठास तो नहीं है। (और मान लें उस अनुभवके पूर्व ही आपका उसी व्यक्तिसे विवाह हो गया) फिर तो आपको अनुभव होगा कि आप एक जालमें फँस गयी हैं—××××× और उस पतिके व्यवहार-बर्तावसे अन्तमें आप इस भयानक निष्कर्षपर पहुँचती हैं कि वह जो प्रेमी (विवाहसे पूर्व) जगत्का सर्वश्रेष्ठ नमूना प्रतीत होता था, आज सर्वाधिक स्वार्थी और एक अत्यन्त असह्य पति बन गया है। दुर्भाग्यकी बात तो यह है कि आपका ऐसा सोचना ठीक है। क्या आरम्भसे लेकर अबतक वह सचमुच आपको ही प्यार कर रहा था? नहीं, वह अपने-आपको प्यार कर रहा था, उस सुखको चाह रहा था जो उसे आपसे मिल रहा था। उसका अभिप्राय एकमात्र अपने सुख पानेसे था और उसकी समस्त मनोरम वचनावलियाँ स्वार्थपूर्ण अनुरोधका रूपान्तरमात्र थीं। यदि आपने उसे ठुकरा दिया होता तो वह मरनेको तैयार हो जाता—यह

मृत्युका आवाहन आपके लिये नहीं। आपके कारणसे! उसकी अहम्मन्यतापर पहुँचा हुआ आघात तथा उसकी अभिलाषाओंका मर्दन उसके लिये इतना असह्य हो जाता कि वह आत्मघात करके शान्ति प्राप्त करना चाहता। वह तो सबसे बड़ा अहङ्कारी है, जो अभिलषित वस्तुको न प्राप्त करनेकी अपेक्षा जीवित न रहनेको श्रेयस्कर समझेगा। साधारण अन्तरके साथ उसके समान सहस्रों व्यक्ति प्रेमका दम भरनेवाले मिलेंगे। 'भग्नहृदय होकर मर जाना।' इस काव्यमय प्रतीत होनेवाले वाक्यका वास्तविक अर्थ क्या है? स्वार्थके कारण मरना। अलभ्य वस्तुकी निरन्तर चाहसे अभिभूत होकर हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।"

'स्वार्थ और अहङ्कार कितने प्रच्छन्न हो सकते हैं और इनमें भी अहङ्कार हमारे चरित्रके प्रत्येक छिद्रों और दरारोंमें कीटाणुकी भाँति चुपकेसे पहुँचकर, जहाँ बिल्कुल भी आशा नहीं है, ऐसे स्थलोंपर सिर निकालकर कैसे झाँकने लगता है—यह हम देख लें। इस साँपसे अपनी रक्षा करें। यह बड़ा भयानक है—नहीं, नहीं, यह हमारे समस्त सौन्दर्यको नष्ट कर देनेवाला रोग-कीटाणु है। इसे तो ज्ञानरूप शोधक एवं निर्विष कर देनेवाले ओषधिविशेषसे नष्ट ही कर देना चाहिये।' *

आदरणीय सन्तके ये उद्गार बड़े ही सरल एवं नपे-तुले हैं, पर हैं अत्यन्त व्यापक। जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें इन भावोंकी कसौटीपर अपनी चेष्टाओंको कसकर देख लें। हम स्वार्थ (काम) के कण्टकमय वनमें चक्कर लगा रहे हैं या निर्मल प्रेमके राज-मार्गपर अग्रसर हो रहे हैं—यह निर्णय हमें मिल जायगा तथा वस्तुस्थिति समझ लेनेपर हम यदि अपना सुधार करना चाहें तो अवश्य कर सकते हैं।

---

* The initite in the new world—
नामक पुस्तकके एक अंशका भावानुवाद।

हमारा भ्रान्त मन इन बातोंका उलटा अर्थ भी ले सकता है। वह हमें कहेगा कि जब सर्वत्र सभी सम्बन्ध स्वार्थसे पूर्ण हैं, इनमें विशुद्ध प्रेम है ही नहीं तो चलो छोड़ो, सबसे अलग हो जाओ। पर यह भी मनका धोखा ही है। हम अलग जायँगे कहाँ ? जहाँ जायँगे, मन तो साथ रहेगा। मनमें भरा है संसार, भरी है स्वार्थ-वासना, कामलालसा। बाहरसे सर्वथा वैरागी बनकर भी भीतरसे अत्यन्त कलुषपूर्ण साम्राज्यमें ही हम विचरते रहेंगे, हमारे अन्दरसे सबकी अनजानमें ही विषका प्रवाह बहता रहेगा और न जाने कितने प्राणी उसके सम्पर्कमें आकर पतङ्गकी भाँति झुलसनेका प्रोत्साहन पायेंगे। आवश्यकता तो इस बातकी है कि सच्ची नीयतसे आत्मपरीक्षण करके हम कामरूप विषको शोध डालें। फिर यह अमृत बन जायगा, हमें नवजीवन देकर हमारे लिये, अनेकके लिये अनन्त शाश्वत सुख-शान्तिके द्वार खोल देगा।

उपर्युक्त सभी बातोंका सारांश इतना ही है—हमारे प्रत्येक सम्बन्धमें प्रभुकी भावना, उनका अस्तित्व ओतप्रोत रहे। यह हुए बिना हम कामके क्षेत्रमें बरबस गिर पड़ेंगे। स्वार्थकी वासना सर्वथा न रहे; क्योंकि प्रेम-राज्यमें इसके लिये कहीं भी तनिक भी स्थान नहीं है। वहाँ तो सर्वत्र, अणु-अणुमें एक ही स्पन्दन है—हमारा प्यारा सुखी रहे। हमारे द्वारा ही प्यारेको सुख मिले, यह भी न रहे, इसके फेरमें हम कभी न पड़ें। यहाँ भी स्वार्थ—कामकी माया है, हमारी अहंताका जाल है; इससे भी हमें निश्चित रूपसे बचना है। सच्चे प्रेमीको यदि कभी अपनी स्मृति होती है तब उस समय भी उसके हृत्तन्त्रीके तारपर तो यही स्वरलहरी झंकृत हो उठती है—

*'हमारा क्या है, हम रहे न रहे।'*

यह बात भी जान लेनेकी है कि वास्तवमें उपर्युक्त सभी बातें

प्रेमसाम्राज्यसे बहुत दूर इधरकी हैं। प्रेमकी भूमिकामें पदार्पण करनेपर, हमारे अन्दर प्रेमकी प्रतिष्ठा हो जानेपर यह भावना नहीं करनी पड़ती, स्मरण नहीं करना पड़ता कि ये (प्रेमास्पद) प्रभु हैं, ये हमारी सेवा स्वीकार कर रहे हैं आदि। वहाँ तो प्रेमीका यह नित्य सिद्ध अनुभव है। अभी जो हम भावना कर रहे हैं, हमें जैसी प्रतीति हो रही है, बुद्धिका जैसा निर्णय है, वैसा ही वह अनुभव भी हो, यह बात भी नहीं। वह स्थिति तो ऐसी होती है कि उसके लिये कुछ भी कहना नहीं बनता; किन्तु हमें अभी इतनी ऊँची बातोंको जानने-सुनने, सोचने-समझनेकी भी आवश्यकता नहीं। हम तो अभी कीचड़में फँसे हैं, प्रेमके सुन्दर सरोवरमें अवगाहन करनेका स्वप्न देखनेसे क्या लाभ ? हमारे लिये तो यही उचित है, यही नितान्त आवश्यक है—हमारे जितने भी सम्बन्ध हैं, उन सबमें प्रभुकी भावना करके, भावनाके द्वारा शक्तिसञ्चय करके हम पहले कामरूप कीचड़से बाहर निकल आयें। फिर विशुद्ध प्रेमवारिसे—***हम जिन्हें प्यार करते हैं, वे सुखी रहें, उनसे हम नहीं***—इ विशुद्ध भावजलसे कण्ठतक लगी हुई कीचको धो डालें। और र अनादिकालसे सिरपर अहंताकी गाँठोंसे भरा बोझ जो लादे हुए हैं, उ भी फेंककर, सर्वथा हलके होकर, प्रेममन्दिरकी ओर चल पड़ें। इसम हमारा लाभ तो है ही, जगत्के लिये भी हमारा जीवन— अभी जो अभिशाप बना हुआ है—वरदान बन जायगा। हमारे पथका अनुसरण कर न जाने कितने कृतार्थ होंगे।

—★—

# दु:खनाशका अमोघ उपाय

परिस्थिति कैसी है, इसपर हमारा सुख-दु:ख निर्भर नहीं करता। हम परिस्थितिको किस प्रकार ग्रहण करते हैं, उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है, इसीमें हमारा सुख-दु:ख समाया हुआ है। मान लें, एक व्यक्तिकी मृत्यु होती। अब जिनका उसके प्रति राग या ममत्व होता है, मित्रभाव रहता है, वे तो हाहाकार कर उठते हैं। पर जिनकी उसके प्रति द्वेष-बुद्धि होती है, शत्रुभावना रहती है, वे हर्षित होते हैं। घटना एक है। एक ही व्यक्तिकी मृत्यु हुई है, किन्तु उस मृत्युके प्रति भाव भिन्न-भिन्न होनेके कारण किसीको शोक एवं किसीको हर्ष होता है। इस प्रकार हम चाहे जिस घटनाको भी लें, यह सर्वथा अखण्ड स्थिर नियम है कि यदि घटनाके प्रति हमारी प्रतिकूल भावना होगी तो हमें निश्चित रूपसे कम या अधिक मात्रामें दु:ख होगा ही, तथा अनुकूल भावना रहनेपर भावनाके तारतम्यसे उसी मात्रामें सुखकी अनुभूति भी होगी ही।

हममेंसे ऐसा कौन है जिसे सुखकी चाह नहीं है, जो दु:खसे बचना नहीं चाहता? सुख-दु:खकी सीमासे पार गये हुए सन्तोंकी बात छोड़ दें, अन्यथा उनके अतिरिक्त हममेंसे प्रत्येकके मनमें सुखकी वासना रहती ही है, साथ ही हमारा यह अनुभव है कि चाह न रहनेपर भी दु:खकी प्राप्ति हमें होती ही है। यह भी नितान्त सत्य है कि दु:खमें हमारे भाव निमित्त हैं, घटना नहीं। अत: यदि हम किसी प्रकार अपने भावोंकी शुद्धि कर सकें, प्रत्येक घटनाको ठीक-ठीक ग्रहण करना सीख जायँ तो हमारे दु:खोंका अन्त हो जाय।

आवश्यकता इस बातकी है कि घटना-परिस्थितिके बाह्यरूपसे

अपनी आँखें हटाकर उसके अन्तरालमें, वहीं छिपे हुए प्रभुके मङ्गलमय हाथको हम देखना आरम्भ कर दें, परिस्थितिके सूत्रधारकी ओर हमारी दृष्टि केन्द्रित हो जाय। जहाँ हम उनकी ओर देखने लगे कि घटनाकी वास्तविकता हमारे सामने क्रमशः व्यक्त होने लगेगी। जगत्‌में वस्तुतः कभी कुछ भी, तनिक-सा भी, किसीके भी प्रतिकूल होता ही नहीं, सदा सब कुछ सर्वथा सबके अनुकूल-ही-अनुकूल होता है—यह तथ्य हमारे सामने आने लगेगा और हम दुःखसे त्राण पा जायँगे।

यह सत्य है कि प्रभुकी ओर दृष्टि फेर लेनेकी बातका कहना-सुनना तो सहज है, पर वास्तवमें विपत्तिके समय, सब ओरसे प्रतिकूल परिस्थितियोंसे घिर जानेपर प्रभुकी ओर देखने लग जाना, अमङ्गलके अन्तरालसे मङ्गलमयके हाथको ढूँढ़ निकालना उतना सहज नहीं है, किन्तु यदि हम अपने अन्दर प्रभुकी दी हुई शक्तियोंका सदुपयोग करते हुए इस प्रयत्नमें तत्परतासे लग जायँ तो थोड़े दिनोंमें ही दृढ़ अभ्यास होकर हमारी वृत्ति ऐसी बन सकती है कि प्रत्येक परिस्थितिको ही हम अनुकूल, प्रभुके द्वारा भेजी हुई, हमारे मङ्गलके लिये ही आयी हुई अनुभव करने लग जायँ। हम किसी भी वस्तुकी प्राप्तिका उद्देश्य लेकर क्यों न चलें, उसकी सफलताके लिये हमारे अन्दर तीन बातोंका रहना आवश्यक है। वस्तु है, वह लोगोंको मिलती है, मिली है, हमें भी मिल सकती है—यह दृढ़ विश्वास हमारे अन्दर हो, यह पहली बात है। वस्तुको पानेके लिये हमारे अन्दर पूर्ण प्रयत्न (लगन) हो, यह दूसरी बात। तथा तीसरी बात यह कि हमारे अन्दर मन-बुद्धि-इन्द्रियकी जितनी भी शक्तियाँ हैं, उनका प्रवाह जिस-जिस ओर है, उन सब ओरसे हटकर अपने लक्ष्यमें नियन्त्रित हो जायँ। इन्हींका नाम शास्त्रीय भाषामें श्रद्धा, तत्परता एवं संयम है। अतः यदि हमें भी प्रत्येक

परिस्थितिमें प्रभुकी मङ्गलमयता ढूँढ़ निकालनी हो तो हमारे अन्दर ये तीन बातें होनी चाहिये। वास्तवमें ही प्रभुका प्रत्येक विधान मङ्गलसे ही भरा होता है, प्रत्येक परिस्थितिकी ओटमें उनके मङ्गलमय हाथ छिपे हैं। लोगोंको ऐसी अनुभूति होती है, हो चुकी है, हमें भी ऐसा अनुभव हो सकता है, यह दृढ़ विश्वास हमारे अन्दर हो तथा इस विश्वासके अनन्तर इसे प्रत्यक्ष अनुभव कर लेनेके लिये हमारा प्रयत्न आरम्भ हो। प्रयत्नका रूप सर्वथा सबके लिये एक नहीं हो सकता। अधिकारी भेदसे उसके अनेक रूप बन सकते हैं। पर अधिकांशके लिये लाभकारी एक साधन यह है—

हमारा जीवन कितना भी व्यस्त क्यों न हो, हमें चाहिये कि प्रतिदिन हम कुछ समय निकालकर यथासम्भव किसी एकान्त स्थानमें जा बैठें। सुखपूर्वक बैठकर अपने नेत्र बन्द कर लें। निद्रा आ जानेकी सम्भावना हो तो नेत्र खुले ही रखें। तदनन्तर मनकी वृत्तियोंको सब ओरसे बटोरकर शान्तिसे मन-ही-मन इन भावोंकी आवृत्ति आरम्भ करें—

'हमारे चारों ओर इस निर्मल आकाशके अणु-अणुमें प्रभु ओत-प्रोत हैं, वायुके प्रत्येक स्पन्दनमें प्रभु भरे हैं, सूर्य-चन्द्रकी किरणोंमें, अग्निमें प्रभुकी ही ज्योति भरी है, जल प्रभुके ही रससे परिपूर्ण है, पृथ्वीके कण-कणमें प्रभु विराजित हैं, चर-अचर समस्त प्राणियोंमें प्रभुका निवास है, सबकी सत्ता प्रभुकी सत्तापर ही निर्भर है, हमारी इन्द्रियोंमें समस्त शक्तियाँ सर्वशक्तिमान् प्रभुकी ओरसे आ रही हैं। नेत्र प्रभुकी शक्तिसे देख पाते हैं। कान प्रभुकी शक्तिसे श्रवण करते हैं। त्वचा प्रभुकी शक्तिसे स्पर्शका अनुभव करती है। नासा प्रभुकी शक्तिसे गन्ध ग्रहण करती है। रसना प्रभुकी शक्तिसे रस लेती है। हाथोंमें काम करनेकी शक्ति प्रभुकी ओरसे आ रही है। पैरोंमें चलनेकी शक्ति प्रभु

देते हैं। हमारा मन प्रभुकी शक्तिसे मनन करता है। हमारी बुद्धि प्रभुकी शक्तिसे निश्चय करती है। समस्त जगत्में जहाँ, जिसमें जो कुछ भी हलन-चलन क्रिया है, सब प्रभुकी सत्ता एवं शक्तिसे ही हो रही है। प्रभु अनन्त मङ्गलमय हैं, उनमें सर्वथा सदा मङ्गल-ही-मङ्गल भरा है। प्रभु एवं प्रभुका विधान दो वस्तु नहीं है। जो प्रभु है, वही प्रभुका विधान है। विधाता और विधान, लीलामय और लीला एक ही है। अतः मङ्गलमय प्रभुका प्रत्येक विधान अनन्त-असीम मङ्गलसे भरा है। जगत्में जो कुछ हुआ है, हो रहा है, होगा—सबमें मङ्गल भरा है। अबतक मेरे लिये जिसने जो भी, जैसी भी चेष्टा की है, कर रहा है, करेगा—सबमें मेरे प्रभु भरे हैं, उनकी मङ्गलमयता भरी है।

इस प्रकारके भावोंकी कुछ देर पुनः-पुनः रस ले-लेकर आवृत्ति करते रहें। इस भावनाका परिणाम यह होगा कि ये विचार हमारे चारों ओर फैल जायँगे तथा अन्य समयमें भी, जब कि हम दूसरे-दूसरे कार्योंमें व्यस्त रहेंगे, ये रह-रहकर हमारे मनमें स्फुरित होते रहेंगे। जैसे-जैसे एकान्तका अभ्यास दृढ़ होगा, वैसे-वैसे व्यवहारके समय ऐसी स्फुरणाएँ अधिकाधिक होने लगेंगी। आज जो हमारा वातावरण प्रभुसे शून्य है, वह प्रभुसे भरने लगेगा। क्षण-क्षणमें क्षुद्र-से-क्षुद्र घटनामें अमङ्गलकी भावना होकर हमें जो प्रतिकूलताकी प्रतीति होती है, वह मिटने लगेगी। पद-पदपर जो हमारा अहङ्कार जाग उठता है, वह भी शिथिल पड़ने लगेगा। शत्रु-मित्र, दुष्ट-साधु, ऊँच-नीच, सर्वत्र सबमें समानरूपसे एकमात्र प्रभुकी सत्ता स्फुरित होने लगेगी। अन्तमें प्रभुके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्ता नहीं बच रहेगी। बस, उसी समय हमारी प्रतिकूलताका भी अन्त हो जायगा, हमारा दुःख भी सदाके लिये जाता रहेगा।

किन्तु यह स्थिति प्राप्त होगी पूरी लगनसे इस अभ्यासमें जुट पड़नेपर ही। आज किया, कल नहीं, दो दिन भावना की, चार दिन नहीं —ऐसे अभ्याससे सफलताकी आशा नहीं है। प्रतिदिन नियमपूर्वक, कोई भी व्यतिक्रम न करके ऐसी भावनाके अभ्यासमें जब हम लगेंगे, तभी हमारे उद्देश्यकी सिद्धि होगी, अन्यथा प्रतिकूल परिस्थिति सामने आते ही ठीक अवसरपर ही हमें इस भावनाकी विस्मृति हो जायेगी तथा स्वभाववश पूर्वकी भाँति ही प्रतिकूलताका अनुभव करके हम दुःखी होते रहेंगे।

इस अभ्यासका क्रम निभता रहे, इसके लिये अपने अन्दर प्रभुकी दी हुई शक्तियोंका सदा सदुपयोग हो, दुरुपयोग कदापि न हो जाय, इसके लिये भी सावधानी रखना आवश्यक है। जबतक हममें अहङ्कार है, तबतक हम सदा सजग रहें—व्यवहारके समय हमारे नेत्र सदा उचित, आवश्यक, पवित्र, निर्मल दृश्यको ही अपने अन्दर भरें; कदापि अनुचित अनावश्यक, अशुद्ध, मलिनको स्थान न दें। श्रवणेन्द्रिय सदा पवित्र शब्द ही ग्रहण करे, कदापि अश्लील अनावश्यक शब्दोंकी ओर न झुके। घ्राण, त्वक्, रसना, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—सभी शुभमें प्रवृत्त हों; भूलकर भी घ्राण शौकीनीके लिये किसी गन्दी गन्धसे न जुड़ जायँ; ऐश-आरामकी भावना लेकर त्वक् कदापि अनुचित-अवैध स्पर्शमें न संलग्न हो जाय; स्वादकी आसक्ति-वश रसना अखाद्यमें तो प्रवृत्त हो ही नहीं, खाद्यमें भी चटोरी न बन जाय। कर्मेन्द्रियाँ अनावश्यक क्रियाशील कदापि न हों; हमारा मन अनर्थक, संकल्प-विकल्पोंमें न लगे। बुद्धि क्षणभरके लिये भी व्यर्थ बातोंका निर्णय देनेमें, निश्चय करनेमें न फँस जाय। इस प्रकार हमारे अन्दर प्रभुकी दी हुई सम्पूर्ण शक्तियोंको हम नियन्त्रित करके अपने निश्चित उद्देश्यकी

सिद्धिमें लगा दें। इनका सदुपयोग करें, दुरुपयोग नहीं। फिर प्रत्येक घटनाको ठीक-ठीक ग्रहण करनेकी—प्रभुसे जुड़ी हुई देखनेकी योग्यता हमारे अन्दर उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी। क्षोभ-दुःखके प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर भी क्रमशः दुःखका भाव कम होता जायगा।

हम कह सकते हैं कि ठीक है, बाहरकी घटनाओंमें तो हमारा प्रतिकूल भाव ही हमारे दुःखमें हेतु है; उसके प्रति भावना परिवर्तन करनेसे हमारा दुःख मिट सकता है; किन्तु मान लें, हमारे शरीरमें कहीं भयङ्कर फोड़ा हो गया, उसकी पीड़ासे हम व्याकुल हो रहे हैं, हमें दुःख हो रहा है। ऐसे अवसरपर तो हमें प्रतिकूलताकी अनुभूति होगी ही, दुःख होगा ही। यह दुःख तो घटनाजन्य ही है, इसमें हमारा भाव कैसे हेतु हुआ ? तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ भी हमारे दृष्टिकोणका ही अन्तर है। साथ ही यह भी समझ रखनेकी बात है कि पीड़ाका अनुभव होना और बात है तथा दुःख होना दूसरी बात है। यदि हमारा दृष्टिकोण बदल जाय, इस घटनाको भी हम ठीक-ठीक ग्रहण करना सीख जायँ तो पीड़ाकी अनुभूति तो होगी, पर दुःख हमें सर्वथा नहीं होगा। यदि किसी प्रकार फोड़ेके प्रति हमारी यह भावना हो जाय कि यह तो प्रभुका प्रसाद है, दयामयके विधानसे आया है, और आया है मेरे दुष्कर्मोंका भार हलका करनेके लिये, नहीं-नहीं, स्वयं ही प्रभु इस रूपमें मुझे स्पर्श कर रहे हैं—ऐसा हमारा दृष्टिकोण हो जाय तो फिर सच मानें, पीड़ाकी अनुभूतिके साथ-ही-साथ एक परम सात्त्विक सुखकी अनुभूति होगी; दुःख तो रत्तीमात्र भी नहीं होगा। ऐसी भावना हो जाना अथवा इस भावनाकी बातको अच्छी तरह समझ लेनामात्र भी कठिन अवश्य है। पर कठिनाई भी इसीलिये है कि हमने कभी भी सच्चे मनसे प्रभुकी सत्ताको स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने स्वीकार किया है, उनके लिये यह

ध्रुव सत्य सिद्धान्त है। उन्हें इसके आचरणमें ऐसी भावना करनेमें परिश्रम भी नहीं करना पड़ता। प्रभुके अस्तित्वकी स्वीकृति उन्हें स्वतः ऐसे भावना-राज्यमें पहुँचा देती है।

बृहदारण्यक श्रुति है—

**एतद् वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते परमँ् हैव लोकं जयति य एवं वेद।**

'कोई ज्वरादि व्याधियोंसे अत्यन्त पीड़ित है, शरीर ज्वरके तापसे जल रहा है। उसे ऐसी भावना करनी चाहिये कि यही मेरे लिये परम तप है, मैं तप कर रहा हूँ। जो ऐसा मानता है, वह इस भावनाके फलस्वरूप परम लोकको जीत लेता है।'

ऐसे ही यदि हम फोड़ेमें अथवा शरीरकी अन्य व्याधियोंमें शरीर-सम्बन्धी प्रत्येक प्रतिकूल घटनामें प्रभुके प्रसादकी, स्वयं प्रभुकी भावना करके उस घटनाके प्रति अपना दृष्टिकोण बदल लें तो पीड़ाकी अनुभूति होनेपर भी हमारा दुःख तो निश्चय ही जाता रहे।

लोभमें भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक व्यक्ति आत्मशुद्धिके लिये किसी दिन व्रत रखकर उपवास करता है, वही किसी दिन संयोग-क्रमसे भोजनकी व्यवस्था न होनेके कारण भूखा रह जाता है। दोनों ही दिन भूखकी पीड़ा तो उसे समानभावसे होती है, किन्तु व्रतवाले दिन वह पीड़ाको सुखपूर्वक सहन करता है, साथ ही व्रतका पालन हो रहा है, इस सुखका अनुभव करते हुए उस दिन होनेवाले उत्सवमें वह उल्लासपूर्वक सम्मिलित भी होता है। भूखकी पीड़ा होते हुए भी उसके अन्तरमें दुःखकी छाया भी नहीं है। पर वही व्यक्ति दूसरे दिन भोजन न मिलनेके कारण दुःखी है, चिन्तित हो रहा है कि क्या करें, भोजनकी व्यवस्था अभीतक नहीं हो सकी है, सन्ध्या होने जा रही है। उस दिन अन्य कार्योंमें भी उसका मन नहीं लगता। भूखकी पीड़ासे मन-ही-मन

व्यथित होकर वह सारा उत्साह खो बैठता है। ऐसा क्यों ? भूखका अनुभव तो दोनों दिन समानभावसे ही होता है; ऐसा इसीलिये कि पहले दिन वह भूख, भूखकी पीड़ा उसके लिये अनुकूल है और दूसरे दिन प्रतिकूल। दृष्टिकोणमें भेद होनेसे ही एक ही प्रकारकी घटना एक दिन सुख और दूसरे दिन दुःखका कारण बन जाती है। कदाचित् वह दृष्टिकोण बदल सके, ऐसा सोच ले कि 'मङ्गलमय प्रभुके विधानसे ही आज मुझे भोजन नहीं मिला, इसमें निश्चय ही मेरा कोई अत्यन्त मङ्गल छिपा है, तो वह तत्क्षण सुखी हो जाय।

अबतकके विवेचनका सारांश यह है कि घटनामें दुःख नहीं है। घटनाके प्रति प्रतिकूल भावना ही हमारे दुःखका सृजन करती है। अतः यदि हम अपना दुःख मिटाना चाहते हों तो घटनाकी ओर न देखकर उसमें ओतप्रोत प्रभुकी ओर दृष्टि स्थिर करें। उनकी ओर दृष्टि लगी कि बस, वे-ही-वे दीखने लगेंगे, सर्वत्र उनके ही मङ्गलमय कर-कमल काम करते दीखेंगे। फिर हमारी प्रतिकूलता मिट जायगी और हमारा दुःख भी सदाके लिये समाप्त हो जायगा। दुःखनाशका यही अमोघ उपाय है।

# भगवान्‌की ज्योति जगा लें

जब हृदयमें भगवान्‌की ज्योति जग उठती है, तब दीखता है कि समस्त विश्व प्रभुमें ही स्थित है एवं विश्वके कण-कणमें प्रभु अवस्थित हैं। फिर अपने-परायेका भेद जाता रहता है, शत्रु-मित्रकी भावना नष्ट हो जाती है, सर्वत्र एक अखण्ड आत्मसत्ता, भगवत्-सत्ताकी ही अनुभूति होती है। उस स्थितिमें सागरकी लहरें, पक्षियोंका कलरव, वृक्षोंकी ओरसे झुर-झुरकर बहनेवाली वायु, पर्वतशिखरोंपर झरते हुए झरने, पर्वतोंसे निकली नदियाँ, सूर्यकी प्रकाशमयी किरणें, चन्द्रकी शीतल चाँदनी, नीला आकाश, नीले, उजले, काले, पीले बादल, हरे-भरे खेत, रङ्ग-बिरङ्गे फूल, फूलोंपर गुन-गुन करते हुए भौंरे— प्रत्येक वस्तु हमारे नेत्रोंके सामने भगवान्‌की परम सुन्दर आनन्दमयी लीलाके अङ्ग बनकर—भगवान् बनकर उपस्थित होती है। इसी प्रकार शरीरकी व्याधि, व्याधि मिटकर स्वास्थ्यकी प्राप्ति, अन्न-वस्त्रके अभावमें होनेवाला कष्ट, अनेक स्वादिष्ट पदार्थोंके भोजन करनेका एवं सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित होनेका सुख, जनताके द्वारा किया हुआ अपमान, जनताके द्वारा दी हुई फूलमालाओंकी भेंट, सर्वत्र फैली हुई निन्दा, सर्वत्र होनेवाली प्रशंसा, पुत्रके जन्मका उत्सव, जवान बेटेकी मृत्यु, बसे हुए गाँवोंका उजड़ जाना, उजड़े हुए गाँवोंका बस जाना—इन सबमें हमें भगवान्‌का मङ्गलमय स्पर्श प्राप्त होता है, भगवान्‌की लीला दीखती है। फिर हमारे ऊपर कोई बन्धन नहीं रहता; यह करो, यह मत करो, ऐसे करो, ऐसे मत करो, इस समय करो, इस समय मत करो—यह नियन्त्रण उठ जाता है, क्योंकि हमारी चेष्टाएँ भी उस अवस्थामें कोई

स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखतीं, हमारे अन्दरसे भी भगवान्‌की ही इच्छा व्यक्त होती है, अतः ये भी उस महान् लीलाकी अङ्गभूत बन जाती हैं।

किसी गुफामें हजार वर्षसे, लाख वर्षसे अन्धकार भरा हो, किन्तु उसमें हम किसी प्रकार एक ऐसा छेद बना दें कि सूर्यकी किरणें प्रवेश करने लग जायँ। फिर तो गुफाका अन्धकार उसी क्षण जाता रहेगा। लाखों वर्षोंसे रहनेवाला अन्धकार यह नहीं कहेगा कि मैं यहाँ इतने दिनोंसे था, मैं तो धीरे-धीरे जाऊँगा, प्रकाश आया कि अन्धकार विलीन हुआ। इसी प्रकार हृदयमें भगवान्‌की दिव्य ज्योतिके उदय होनेभरकी देर है। जिस क्षण उदय हुई कि हमारा अनादिकालीन अज्ञान भी नष्ट हो जायगा तथा हम सर्वत्र भगवान्‌की सत्ताका अनुभव कर निहाल हो जायँगे।

किन्तु जबतक ऐसा नहीं हुआ है, अज्ञानका अँधेरा नहीं मिटा है, प्रभुकी ज्योति नहीं उदय हुई है, तबतक हमपर नियमोंका बन्धन है कि हमें अमुक व्यवहार ऐसे इस समय करना चाहिये, इसका परिणाम सुन्दर होता है; अमुक व्यवहार ऐसे समय नहीं करना चाहिये, इसे करनेका फल बुरा होता है। हम नहीं जानें, नहीं भी स्वीकार करें, मनमाना करने लग जायँ, फिर भी जो नियमका बन्धन है, वह तो रहेगा ही। जो तैरना नहीं जानता, उसे गहरे जलमें नहीं जाना चाहिये, जायगा तो डूब जायगा—यह नियम तैरना न जाननेवाले अबोध शिशुपर उसके नहीं माननेपर भी गहरे जलमें जानेसे लागू पड़ता ही है। ऐसे ही हमारे न माननेपर भी नियम तो काम करता ही है। अतः बुद्धिमानी इसीमें है कि हम अवश्य लागू होनेवाले नियमोंको पहलेसे ही मानकर चलें, जगन्नियन्ता प्रभुके द्वारा निर्धारित नियमोंको स्वीकार करते हुए ही

आगे बढ़ें। इसका परिणाम यह होगा कि हमारी जीवनयात्रा सुख-शान्तिसे आगे बढ़ेगी, परमानन्दमय प्रभुसे मिलनेका प्रशस्त मार्ग हमें प्राप्त हो जायगा तथा अन्तमें हम उनसे मिलकर कृतार्थ हो सकेंगे।

हम कह सकते हैं कि जब ऐसी बात है, तब हम निर्णय कैसे करें कि हमें कौन-सा व्यवहार कब कैसे करना चाहिये। तो इसके लिये एक व्यापक नियम यह बना लें कि हम जो व्यवहार जैसे जिस समय दूसरोंके द्वारा अपने प्रति आचरित देखना चाहते हैं वही व्यवहार उसी प्रकारसे उस समय हमें दूसरोंके प्रति करना चाहिये। इसका परिणाम सुन्दर होगा। तथा हम दूसरोंके द्वारा जो व्यवहार जिस कालमें जिस ढंगसे अपने प्रति होना पसन्द नहीं करते, उसे दूसरोंके प्रति उसी ढंगसे वैसे ही समयमें कभी नहीं करना चाहिये। उसे करनेका फल बुरा ही होगा। इस नियमको धारण कर लेनेपर निर्णय होनेमें न तो देर लगेगी, न कभी भूल ही होगी।

अब सोचकर देखें—हम चाहते हैं कि सभी सदा सब बातोंमें हमसे सत्य बोलें, कोई व्यक्ति कभी किसी प्रसङ्गमें हमसे झूठ न बोले। लेन-देनमें सभी हमसे सच्चा व्यवहार करें—साग बेचनेवाले हमें सच्चा भाव बतायें, पूरा तौलें; फल बेंचनेवाले अच्छे फल दें, ठीक-ठीक मूल्य लें; मोदी सभी वस्तुएँ अच्छी दें और उचित मूल्य लें, कोई भी हमें तनिक भी न ठगे। सभी हमसे सरल व्यवहार करें, कोई भी हमसे कपट न करे। हम ऐसा चाहते हैं या नहीं ? कोई भी यदि कभी किसी प्रसङ्गमें हमसे झूठ बोलता है, हमें ठगता है, हमसे कपट करता है, तो हमें बुरा लगता है या नहीं ? तो बस फिर दृढ़तापूर्वक व्रत लेकर हम भी यह करें कि सदा सभी बातोंमें सबसे सत्य बोलें, किसीसे भी कभी किसी प्रसङ्गमें झूठ न बोलें। सबके साथ सच्चा व्यवहार करें,

किसीको कभी न ठगें। हमारा सबके प्रति सरल व्यवहार हो, किसीके प्रति कपट न हो।

हम चाहते हैं कि सभी जगह हमें सबके द्वारा अधिक-से-अधिक शारीरिक सुविधा प्राप्त हो, कोई भी हमें कभी शारीरिक कष्ट न दे। हम जहाँ जायँ, वहीं अमृतभरी वाणीसे हमारा स्वागत हो, सबकी वाणीमें हमारे प्रति आदर भरा हो, प्रेम भरा हो, कोई भी हमें कटु वाणी न कहे, हमारा चित्त न दुःखाये। मनसे सभी हमारा मङ्गल चाहें, हमारे लिये शुभ चिन्तन करें; कोई भी हमारा अनिष्ट न सोचे। बस, ठीक इसी प्रकार हमें भी चाहिये कि हमारे सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक प्राणीको हम अधिक-से-अधिक शारीरिक सुविधा दें, किसीको भी हमारे द्वारा शारीरिक कष्ट न पहुँचे। जो भी हमसे मिलें उनके लिये हमारी वाणीमें मधु भरा हो, मधुभरी वाणीसे हम उनका आतिथ्य करें; उनके साथ बातचीतमें हमारी वाणीसे आदर एवं प्रेम झरता रहे। किसीके प्रति भूलकर भी हम कटु वाणीका प्रयोग न करें, कड़वी बात कहकर किसीका भी चित्त न दुःखायें। मनसे सभीके लिये मङ्गल सोचें, सभीके लिये शुभ भावना करें, भूलकर भी कभी किसीका अमङ्गल, अशुभ, अनिष्ट होनेकी इच्छा न करें।

हमपर जब विपत्ति आती है, कोई कष्ट आता है, उस समय इच्छा होती है कि सभी हमें हृदयसे लगा लें, सभी हाथ बढ़ाकर हमारे आँसू पोंछें; हमारे पास जो वस्तुएँ नहीं हैं, उनकी पूर्ति कर दें, उस समय कोई हमारी उपेक्षा न करे। जब हमें ऐसी इच्छा होती है, तब हमारे जीवनका भी यही व्रत होना चाहिये कि किसीको विपत्तिमें पड़ा देखकर—विशेषतः जिसकी सँभाल करनेवाला कोई न दीखे—उसे हम अपने हृदयसे लगा लें, उसके आँसू पोंछनेकी यथासाध्य चेष्टा करें,

उसके जो अभाव हैं, यदि हम उन्हें पूरा कर सकते हों तो अवश्य पूरा कर दें; ऐसा कोई भी व्यक्ति ध्यानमें आनेपर हम उसकी कदापि उपेक्षा न करें।

सारांश यह कि जबतक हमें सर्वत्र भगवद्भावना नहीं होने लगती, तबतक हमपर नियमोंका बन्धन है और इसीलिये हमें सावधान होकर उपर्युक्त कसौटीपर, अपनी चेष्टाओंको कसकर ही व्यवहारमें उतरना चाहिये। पर इतनेसे ही हम भगवान्‌के आलोकमें जा पहुँचेंगे, ऐसी बात नहीं है। इसके लिये हमें और भी आगे—बहुत आगे बढ़ना पड़ेगा।

यहाँ जगत्‌का अत्यन्त स्थूल प्रकाश हमें कैसे मिलता है, हम इसपर विचार करें। दीपक हो, स्नेह (घृत या तेल) हो, स्नेहमें सनी बत्ती हो एवं फिर इस बत्तीका किसी जलते हुए दीपसे संयोग हो जाय। इतनी बात होनेपर हमें जगत्‌का स्थूल आलोक प्राप्त होता है। आलोक प्राप्त होनेपर भी यदि हमारी आँखें नहीं—आँखें नष्ट हो गयी हैं या मोतियाबिन्द हो गया है—तो हमें उस ज्योतिकी अनुभूति नहीं हो सकती। अतः सबसे पहले आँखें होनी चाहिये। इसी प्रकार प्रभुका आलोक पानेके लिये भी एक विशेष प्रकारके दीप, स्नेह आदि एवं आलोक-दर्शनके उपयुक्त आँखें आवश्यक हैं; हमारे अन्दर श्रद्धा (विश्वास) की निर्मल आँखें हों, इन्द्रियाँ दीपका काम करने लगें, भगवत्प्रेमकी स्निग्धता उन दीपोंमें भरने लगे, मनरूपी बत्ती उसके संयोगमें आकर स्निग्ध बन जाय तथा यह बत्ती प्रभुका आलोक-विस्तार करनेवाले किसी सच्चे सन्तरूपी प्रज्वलित दीपसे एक बार जुड़ जाय तो भगवान्‌की ज्योति हमारे अन्दर भी निश्चय प्रकट हो जायगी।

पहली बात तो यह है कि भगवान्‌की सत्तामें, उनके अनन्त सामर्थ्यमें, उनके अनन्त दिव्य गुणोंमें हमारी अचल अडिग श्रद्धा हो।

भगवान् अवश्य हैं, वे सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, वे करुणासिन्धु हैं, प्रेमसमुद्र हैं, सौन्दर्य-सागर हैं, उनमें सत्य, क्षमा, शुचिता, कृतज्ञता, दक्षता, स्थिरता, सहिष्णुता, गम्भीरता, समता, मङ्गलमयता, प्रेमवश्यता आदि अगणित अनन्त सद्‌गुण अपरिसीम मात्रामें नित्य वर्तमान रहते हैं; एक क्षुद्र दर्पणमें सम्पूर्ण आकाशका प्रतिबिम्ब ग्रहण करना जैसे असम्भव है, वैसे ही प्रभुके अस्तित्वकी, उनके अनन्त अपरिसीम सौन्दर्य, माधुर्य आदि सद्‌गुणोंकी पूरी-पूरी कल्पना हमारे क्षुद्र मन-बुद्धिमें समा ही नहीं सकती;—इस बातपर हमारा दृढ़ विश्वास हो। हमारे इस विश्वासको संशयकी छाया कभी छूने न पाये, किंतु हमारा दुर्भाग्य कहें या क्या कहें—हमारे अन्दर प्रभुपर विश्वास ही नहीं है। (हजारोंमें एक व्यक्ति भी कठिनतासे मिलेगा, जो सचमुच भगवान्‌में विश्वास रखता हो।) हम पापपर विश्वास कर लेते हैं, किसी मनुष्यपर अथवा अपने पुरुषार्थ (अहङ्कार) पर हमारा भरोसा हो जाता है, पर प्रभुपर नहीं। हम सोचते हैं—हमारा अमुक कार्य है, इसमें इतना झूठ तो हमें बोलना ही पड़ेगा, बिना झूठ बोले काम होनेका ही नहीं, दूसरे शब्दोंमें झूठ (पाप) पर हमारा विश्वास है कि झूठ हमारा काम कर देगा। हम देखते हैं कि हमारा यह कार्य अमुक सज्जन कर सकते हैं तथा उनपर विश्वास करके उनकी आशा लगाये रहते हैं। अथवा सोचने लगते हैं—अजी चलो, रखा ही क्या है, हम करके छोड़ेंगे। अर्थात् अपने अहङ्कारका हमें भरोसा है। हम भगवान्‌की ओर नहीं ताकते कि वे हमारा कार्य कर दें। सच तो यह है कि हमारा यह कार्य भी, जिसे हम झूठ बोलकर सफल करने जा रहे हैं, मनुष्यकी अहङ्कारकी शक्तिसे पूरा कर लेनेका मनसूबा बाँध रहे हैं, पूरा होगा भगवान्‌की शक्ति-प्रेरणा एवं इच्छासे ही; किंतु हमारा अविश्वास इस सत्यको हमपर प्रकट नहीं

होने देता और हमें ऐसा दीखता है कि झूठसे काम होगा, वे कर देंगे, हम कर लेंगे। इस प्रकार हम सदा उत्तरोत्तर भगवान्‌के आलोकसे दूर ही हटते रहते हैं, उस ओर नहीं बढ़ते। कभी विश्वास करते भी हैं तो वह डगमग करता रहता है। नेत्रोंकी ज्योतिमें मोतियाबिन्दकी तरह उस विश्वासमें संशय समाया रहता है। मोतियाबिन्द होनेपर जैसे ज्योति धुँधली हो जाती है, सामनेकी वस्तु हम स्पष्ट देख नहीं पाते, वैसे ही विश्वासमें संशय घुस जानेपर—प्रभु करेंगे कि नहीं ? 'क्या पता, प्रभुने किया है या अमुक व्यक्तिकी सहायतासे हमारा काम हो गया ?'—इस प्रकारका संशय रहनेपर विश्वाससे होनेवाले प्रभुके चमत्कारको सामने रहनेपर भी हम स्पष्ट नहीं देख पाते। इसीलिये संशयहीन दृढ़ विश्वास करनेकी आवश्यकता है। ऐसा निर्मल, स्थिर विश्वास होनेपर ही सभी बातोंमें प्रभुकी ओर ताकनेकी हमारी प्रवृत्ति होगी; हम उनकी ओर देखना चाहेंगे, देखेंगे तथा देखनेपर आगे या पीछे उनका आलोक हमारे नेत्रोंमें व्यक्त होकर ही रहेगा। इस प्रकार बुद्धिमें भगवान्‌की सत्ताका दृढ़ निश्चय होना ही है श्रद्धाकी निर्मल आँख।

दूसरी बात यह है कि हम इन्द्रियोंको विषयोंसे लौटाकर उनका मुख प्रभुकी ओर करें। जिस प्रकार उलटाये हुए दीपमें तेल रखा नहीं जा सकता, उसी प्रकार प्रभुकी ओर पीठ देकर विषयोंकी ओर मुख रखनेवाली इन्द्रियोंमें भगवत्प्रेमकी स्निग्धता आ नहीं सकती। हमारी इन्द्रियोंका मुख उलटा हो रहा है, प्रभुसे उलटी दिशाकी ओर मुख करके ये दौड़ रही हैं—नेत्रोंको सुन्दर रूप, नासाको मीठा सौरभ, कानको मधुर शब्द, रसनाको मधुर रस, त्वक्‌को सुकोमल स्पर्श अत्यन्त प्यारा है। सुन्दर, सुरभित, मधुर, सुकोमलके प्रति प्रीति बुरी भी नहीं है। पर सुन्दरता, सुवास, मधुरता, कोमलता आदि यहाँ हैं

कहाँ ? यह तो भ्रम है। हम थोड़ी देरके लिये विवेकसे विचार करें—हमारी इन्द्रियाँ किसीके (परस्पर स्त्री-पुरुषोंके) सुन्दर रूपपर, सुरीले कण्ठपर, इत्र या सेंटसे सुवासित अङ्गोंके सुवासपर, अङ्गोंके कोमल स्पर्श आदिपर न्योछावर होने लगती हैं। पर मान लें, कलको उसकी मृत्यु हो जाय तो फिर वह सुन्दरता, सुवास आदि नष्ट क्यों हो जाते हैं ? शरीर तो वही है, सुन्दरता क्या हो गयी। मुख भी है, जीभ भी है, पर सुरीला कण्ठ लुप्त क्यों हो गया ? कितना भी इत्र, सेंटसे उस मृत शरीरको चुपड़ दें, पर उसमें सड़न क्यों आने लग गयी ? अङ्ग ऐंठ क्यों गये ? अब यदि हमारा विवेक ठीक-ठीक काम करता है तो हम सहजमें ही समझ सकते हैं कि जबतक जीवके रूपमें प्रभुकी सत्ता, प्रभुकी आंशिक ज्योति उस शरीरमें इन्द्रिय-गोलकोंसे व्यक्त थी, तभीतक वह सुन्दरता थी, सुरीली वाणी व्यक्त हो रही थी, सुवास झरता था, कोमलता लहराती थी। वह सत्ता अव्यक्त हुई कि ये सब भी उसीके साथ अव्यक्त हो गये, चले गये। वास्तवमें सौन्दर्य, माधुर्य, सौरभ-सुवास प्रभुका था, प्रभुके रहनेपर शरीर इन्द्रियोंमें उनकी छाया पड़ रही थी, हमारी इन्द्रियोंको भ्रम हो रहा था कि वह सुन्दरता आदि इस शरीरकी है, अब प्रभु नहीं हैं, इसलिये ये भी नहीं दीख रहे हैं। अतः ये सब प्रभुमें हैं, शरीरमें नहीं। प्रभु नित्य हैं, उनके सौन्दर्य-माधुर्य आदि गुण भी नित्य हैं, शरीर नश्वर है, सड़-गलकर मिट्टीमें मिल जानेवाली वस्तु है। इस विवेकको जाग्रत् करके नश्वर वस्तु, नश्वर भावसे चिपटी हुई इन्द्रियोंको हमें वहाँसे अलगकर प्रभुकी ओर करना पड़ेगा। जब इनका मुख इधरसे मुड़कर प्रभुकी ओर हो जायगा, भ्रमकी ओरसे हटकर जब ये सत्यस्वरूप प्रभुकी ओर ताकने लगेंगी, तब ये प्रभुका आलोक प्रकट करनेके लिये दीपकका काम देंगी, भगवत्-

प्रेमकी स्निग्धता इनमें एकत्र हो सकेगी। दूसरे शब्दोंमें हमारी इन्द्रियोंमें विषयोंके प्रति वैराग्य होना ही यहाँ उनका दीपकका काम करने लग जाना है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम सबसे सम्बन्ध तोड़कर 'वैरागी बाबा' बन जायँ। ऐसा करना तो इस पद्धतिको सर्वथा नहीं समझना है। इसका तात्पर्य यह है कि नश्वरमें अवस्थित अविनाशीको हम ढूँढ़ निकालें। सुन्दर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन सबका जहाँ उद्‌गम है, वहाँ—उन प्रभुकी ओर हमारी इन्द्रियाँ केन्द्रित हों।

इन्द्रियोंका मुख भगवान्‌की ओर हो जानेपर तीसरी एवं चौथी बात अपने-आप आरम्भ हो जायगी। विषयोंके सम्बन्ध एवं प्रभुके सम्बन्धके परिणाममें एक भारी अन्तर यह है कि विषयोंके प्राप्त होनेपर जब इन्द्रियाँ उनका उपयोग करने लगती हैं, तब बस, उसी क्षणसे ही रस (आनन्द) की मात्रा कम होने लग जाती है। किसी रूपके प्रति हमारा अत्यधिक आकर्षण है; पर जहाँ उस रूपका उपभोग हमारी आँखोंको मिलने लगा कि बस, उसी क्षणसे दर्शनका रस कम होने लगता है। भले ही प्रारम्भमें यह लक्षित न हो, पर यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त है; किन्तु इससे ठीक विपरीत यदि एक बार भी हम सर्वत्र व्याप्त प्रभुके नित्य सुन्दर रूपकी ओर आकर्षित हो जायँ तो यह आकर्षण नित्य-निरन्तर बढ़ता ही रहेगा; दर्शनसुखकी मात्रा निरन्तर बढ़ती रहेगी। एक नवयुवक किसी रूपवती युवतीको देखकर मुग्ध हो रहा है तथा प्रभुके आलोकका अनुभव करनेवाला एक सन्त अपनी काली-कलूटी पत्नीको देखकर प्रेममें डूब रहा है—इन दोनोंमें युवकका युवतीके प्रति आकर्षण, प्रेम, उससे प्राप्त होनेवाला सुख तो मिलनके प्रथम क्षणसे ह्रासकी ओर बढ़ रहा है, किन्तु सन्तका आकर्षण, प्रेम-सुख प्रतिक्षण वृद्धिकी ओर जा रहा है। ऐसा इसीलिये कि वह युवक

उस युवतीके बाह्य नश्वर सौन्दर्यको देख रहा है तथा सन्त उस काली-कलूटी पत्नीके अन्तरमें व्यक्त प्रभुके नित्य नवीन हो जानेवाले सौन्दर्यको निहार रहा है। अत: जहाँ इन्द्रियोंका मुख प्रभुकी ओर हुआ कि इनका आकर्षण प्रभुकी ओर क्षण-क्षणमें बढ़ने लगेगा, यह आकर्षण प्रेममें परिणत होने लगेगा, प्रेमजनित स्निग्धतासे ये भरने लगेंगी। साथ ही यह नियम है कि मनके बिना इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकतीं, जहाँ इन्द्रियाँ काम कर रही हैं, वहाँ मन भी निश्चय है ही। जब इन्द्रियाँ विषयोंमें भटक रही थीं, तो उस समय हमारे मनकी वृत्तियाँ भी बिखरे तन्तुओंकी भाँति इधर-उधर फैली रहती थीं; जब इन्द्रियाँ मुड़कर एक प्रभुकी ओर उन्मुख हो गयीं, तब मनकी वृत्तियाँ भी एकाग्र हो गयीं; मानो बिखरे हुए तन्तु एकत्र होकर, जुड़कर बत्तीके रूपमें परिणत हो गये। साथ ही यदि हमारी इन्द्रियोंमें भगवत्-प्रेमकी स्निग्धता बढ़ती जा रही है तो निश्चय है कि उनके साथ रहनेके कारण हमारा मन भी उस स्निग्धतासे सनता जा रहा है, यही है इन्द्रियरूप दीपका स्निग्ध पदार्थसे भर जाना एवं मनरूपी बत्ती (आलोक ग्रहण करनेके साधन) का स्निग्ध हो जाना। इसीको कहते हैं भगवान्‌में राग हो जाना, रागयुक्त मनका भगवान्‌में एकाग्र हो जाना।

अब बस, पाँचवीं बात शेष रही है। वह है इस दीपका किसी प्रज्वलित दीपसे संसर्ग करा देना। अर्थात् हमारा रागयुक्त एवं एकाग्र हुआ मन किसी ऐसे सन्तके मनसे जा जुड़े, जिसमें प्रभुकी ज्योति जल रही हो तो यह भी अपने-आप प्रज्वलित हो जायगा। यदि हमारी बुद्धिमें भगवान्‌की सत्ताका दृढ़ निश्चय हो, इन्द्रियोंमें विषयोंके प्रति विराग हो, भगवान्‌के प्रति राग हो, रागयुक्त मन भगवान्‌में एकाग्र हो रहा हो तो अपने हृदयमें जलती हुई प्रभुकी ज्योतिको हमारे मनसे छुड़ाकर ज्योति जगानेवाले सन्त अपने-आप हमें ढूँढ़ते हुए आ पहुँचते हैं, नहीं-नहीं स्वयं प्रभु ही उन सन्तके रूपमें आकर, हृदयसे लगाकर

हमारे हृदयको भी आलोकित कर देते हैं। फिर अनुभव होता है—हम नहीं, हमारा कुछ नहीं, एकमात्र वे ही वे हैं, सर्वत्र उन्हींकी लीला चल रही है।

आरम्भसे लेकर अबतक—व्यवहार-सुधार (मानवधर्म) भगवान्‌में श्रद्धा, विषयोंमें वैराग्य, भगवान्‌में अनुराग, मनकी एकाग्रता एवं सन्त-मिलन—ये छः बातें हुईं। ये छः बातें हमारे जीवनमें आ जायँ, इसके लिये हमें चेष्टा करनी ही चाहिये। यह नियम नहीं है कि सबके जीवनमें ये एक ही क्रमसे आयेंगी। हमारे संस्कार एवं वातावरणके अनुसार ही क्रम बनेगा और वह भिन्न-भिन्न होगा। पर यह सत्य है कि इनमें एक पूरी आ गयी तो शेष पाँचों भी आकर ही रहेंगी; क्योंकि इनमें परस्पर सम्बन्ध है। हमें तो चाहिये कि एकको, दोको, तीनको—जितना हम अपने जीवनमें उतार सकें, उन्हें क्रियात्मकरूपसे अपने जीवनमें उतारें; शेष अपने-आप उतर आयँगी। इस प्रकार चेष्टा करके, जीवन समाप्त होते-न-होते हम भगवान्‌की ज्योति जगा लें, ज्योति जगाकर उनको पहचान लें। यह हो गया तब तो ठीक है, अन्यथा जीवन सर्वथा निरर्थक गया। लाभ तो कुछ हुआ नहीं, प्रत्युत ऐसी महान् हानि हुई कि उसे पूरा कर लेना अत्यन्त कठिन है। एक मानवजीवन ही ऐसा है, जिसमें हमें विवेक प्राप्त है। इस विवेकका उपयोग कर हम प्रभुके आलोकका दर्शन पा सकते हैं, प्रत्येक प्राणीमें—सर्वत्र समस्त विश्वमें उन्हें भरा अनुभव कर परमानन्द सिन्धुमें सदाके लिये निमग्न हो सकते हैं—

**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति**
**न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।**
**भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः**
**प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥**

★

# प्रभुका आश्रय

कहते हैं कि बवण्डर (चक्रवात) के ठीक बीचमें एक ऐसा स्थान भी रहता है, जहाँ कोई हलचल नहीं, वायुका तनिक भी प्रकोप नहीं; प्रत्युत वहाँ इतनी शान्ति रहती है कि यदि किसी छोटे शिशुको वहाँ सुलाया जा सके तो वह सुखकी नींद सोता रहेगा, वायुका झकझोर उसे छूतक नहीं सकेगा। ठीक इसी प्रकार इस संसार-कोलाहलके मध्यमें प्रभु विराजित हैं तथा जहाँ वे हैं, वहाँ न तो जगत्‌की हलचल है और न त्रितापकी विषमयी ज्वाला ही; वहाँ सर्वदा और सर्वथा सुख-शान्ति भरी रहती है; जो कोई भी वहाँ पहुँच जाता है, उसके प्राण शीतल हो जाते हैं; जगत्‌के उलट-फेर फिर उसपर अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते। हम अपने जीवनपर विचार कर देखें तो पता चलेगा कि उसमें न जाने कितने चढ़ाव-उतार हुए हैं; कितनी बार हम हँसे हैं और कितनी बार रोये हैं। संसारके प्रवाहमें बहते हुए हम सदा चञ्चल बने रहते हैं। अबतक कोई भी ऐसा विश्रामस्थल हमें नहीं मिला, जहाँ थोड़ी देरके लिये भी आरामसे टिककर शान्तिसे स्थिर होकर हम थकान मिटा सकें। थककर हम जिसका सहारा लेने चलते हैं, देखते हैं वह भी हमारी ही भाँति चञ्चल है, सतत उसी प्रवाहमें बह रहा है। इस प्रकार संसारके थपेड़ोंकी चोट खाते-खाते हमारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयी हैं, मन उद्विग्न हो उठा है और बुद्धि कुण्ठित हो चली है। इन्द्रियाँ यहाँकी वस्तुओंमें सुख ढूँढ़ने जाती हैं, पर सुखके बदले आगे या पीछे इन्हें प्राप्त होती है सदा विषैली ज्वाला ही। ये बुरी तरह झुलस जाती हैं। मन अनुकूल ढूँढ़ने जाता है, अमुक परिस्थिति ऐसी बन जाय,

अमुक व्यक्ति ऐसा बन जाय, यों सोचता हुआ यहाँकी वस्तुओंमें अपने योग्य आश्रय ढूँढ़ने चलता है, पर इसे भी पहले या पीछे मिलती है भयानक प्रतिकूलता ही। आजतक किसीके लिये भी सभी बातें सदा और सर्वथा अनुकूल बन गयी हों, यह न कभी हुआ है न होगा। इसीलिये अनुकूलता ढूँढ़नेवाले मनको प्रतिकूलता प्राप्त होती है और उस समय वह हाहाकार कर उठता है। बुद्धि सारा विवेक लगाकर निर्णय देती है कि बस, 'इस काममें लगो, इस बार सफलता अवश्य मिलेगी, इस बार तुम्हारे सारे अभावोंकी पूर्ति हो जायगी।' किन्तु परिणाम यह होता है कि हम असफल हो जाते हैं; अथवा कहीं सफल भी हुए, हमारा कोई-सा एक अभाव पूर्ण भी हो गया तो उसके साथ ही नये दसों-बीसों अभाव खड़े हो जाते हैं; अब इन नये अभावोंकी पूर्ति कैसे हो, इस विषयमें बुद्धि कोई भी निर्णय नहीं कर पाती, इस प्रकार हमारा जीवन ही संसारके बवण्डरमें यहाँसे वहाँ उड़ता रहता है, सदा अशान्त बना रहता है,किन्तु यदि हम बवण्डरसे खिसककर इसीके केन्द्रमें विराजित प्रभुसे जा लगें, उनकी छत्रछायामें हम विश्राम पा जायँ तो फिर हमारी दशा सर्वथा दूसरी ही हो जाय। उस समय यहाँकी हलचल चाहे कितनी ही भयानक, कितनी ही प्रबल क्यों न हो, हम उससे कभी विचलित नहीं हो सकते।

हम देखते हैं एक राष्ट्र दूसरेका विरोधी है, एक जाति दूसरीको पददलित करने जाती है, एक समाज अपने साथ-साथ चलनेवाले दूसरे समाजको कोसता है और एक व्यक्ति दूसरेको नीचा दिखानेकी भरपूर चेष्टा करता है। दूसरी ओर—यद्यपि पहलेकी तुलनामें बहुत ही कम हैं—ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि एक राष्ट्र दूसरेका मित्र है, एक जाति दूसरेका अभ्युत्थान चाहती है, एक समाज दूसरे समाजक

आदर करता है और एक व्यक्ति दूसरेको ऊपर उठानेके लिये अपना सर्वस्व दे डालता है। एक ओर अशुभ प्रवृत्तिका प्रवाह है, दूसरी ओर शुभका। प्रत्येक सद्भावना रखनेवाला मानव यही चाहेगा कि शीघ्र-से-शीघ्र जगत्‌में अशुभ प्रवृत्तिका अन्त हो जाय और शुभका अधिक-से-अधिक तथा शीघ्र-से-शीघ्र विस्तार हो; किन्तु इस अशुभका विनाश एवं शुभका विस्तार तबतक सम्भव नहीं, जबतक इस हलचलसे जुड़े हुए हम इसीके साथ बह रहे हैं। इसके लिये तो हमें इससे हटकर इसी हलचलके बीचमें अवस्थित, पर इससे सर्वथा परे प्रभुको अपने जीवनका आधार बनाना पड़ेगा, सबके केन्द्रमें विराजित प्रभुका आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। तभी अशुभके अन्त एवं शुभके प्रसारमें हम सहायक बन सकेंगे।

कहनेका तात्पर्य यह है कि चाहे हमारा उद्देश्य अपनेतक ही सीमित हो, हम केवल अपनी ही सुख-शान्ति चाहते हों, अथवा हमारा उद्देश्य अत्यन्त विशाल हो—समाजकी, जातिकी, राष्ट्रकी और सारे विश्वकी सुख-शान्ति हमारा लक्ष्य हो—इन दोनों परिस्थितियोंमें जबतक इनके लिये किये जानेवाले बाहरी प्रयासपर ही हम निर्भर करते हैं, प्रभुपर नहीं, इन उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये जो-जो चेष्टाएँ होती हैं, उन्हींपर हमारा ऐसा विश्वास है—इन्हें करते रहो, केवल इनके करते रहनेसे ही हमारे उद्देश्यकी सिद्धि हो जायेगी, प्रभुकी कृपाकी हमें क्या आवश्यकता है, जबतक केवल मात्र रजोमयी प्रवृत्तियों (हलचल) में ही हम तन्मय हो रहे हैं, प्रभुको भूले हुए हैं, तबतक तो हम भटकते ही रहेंगे। किसी भी शुभ उद्देश्यकी पूर्ति तबतक हो ही नहीं सकती, जबतक प्रभु हमारे आधार नहीं बन जाते।

यह बात अच्छी तरह सदा ध्यानमें रखनेकी है कि हम चाहे

अत्यन्त शुभ-से-शुभ उद्देश्यको लेकर ही किसी सत्कर्ममें प्रवृत्त क्यों न हुए हों, यदि प्रभुका आश्रय किये बिना ही हम आगे बढ़ना चाहते हैं तो यह निश्चित है कि हमारा शुभ उद्देश्य बदलकर धीरे-धीरे किसी अशुभमें परिणत हो जायगा, साथ ही उस सत्कर्ममें भी अनेक त्रुटियाँ आ घुसेंगी और वह सत्कर्म भी बदलते-बदलते अन्तमें सम्भवतः पापकर्म बन जायगा। ऐसा इसीलिये होगा कि समस्त शुभ विचार, समस्त सद्भाव आते हैं इनके अनन्त भण्डार प्रभुकी ओरसे। जहाँ प्रभुका सम्बन्ध नहीं, वहाँ ये आयेंगे कहाँसे ? रहेंगे कैसे ? जहाँ प्रभु नहीं, वहाँ शुभका सौरभ भी नहीं, सत्त्वका प्रकाश भी नहीं। वहाँ तो रजका बवण्डर है, तमोगुणका अँधेरा है। वृक्षसे टूटा हुआ एक सुन्दर पुष्प जैसे बवण्डरमें पड़कर धूलिसे सन जाता है, अँधेरेमें नाचने लगता है, वैसे ही प्रभुका आश्रय छोड़ देनेपर हम संसारके प्रवाहमें पड़कर रजोगुणी-तमोगुणी प्रवृत्तियोंमें उलझ जाते हैं। उन्हींमें चक्कर काटने लगते हैं। हम तब स्वयं अशुभसे चिपटे हुए होते हैं, अशान्त होते हैं, तब फिर दूसरेको सुख-शान्ति दे सकें यह कैसे सम्भव है ? पहले हम स्वयं इस हलचलसे हटें, प्रभुका आश्रय ग्रहण करें, तभी हम स्वयं शुभसे जुड़ पायेंगे, शान्तिका अनुभव करेंगे एवं तभी हमारे द्वारा जगत्‌में दूसरेको भी शुभ एवं शान्तिकी प्राप्ति होगी।

प्रभुके आश्रय ग्रहण करनेका यह अर्थ नहीं कि हम अकर्मण्य बन जायँ, 'काम करना तो रजोगुणी-तमोगुणी प्रवृत्ति है' यह कहकर अवश्यकर्तव्य कर्मोंकी अवहेलना करने लगें। प्रभुका आश्रय करनेपर तो हमारे लिये अकर्मण्य बनना सम्भव ही नहीं। फिर तो हमारे जीवनका प्रत्येक क्षण सदा शुभ चेष्टाओंसे ही पूर्ण रहेगा। जिस क्षण हमने वास्तवमें आश्रय ग्रहण किया कि बस, उसी क्षणसे प्रभुके दिव्य

अनन्त सद्गुणोंका विकास हमारे अन्दर भी होना आरम्भ हो जायगा। आगमें एक लोहेका टुकड़ा गिरा कि बस, उसी क्षणसे उसमें आगके गुण आने लगेंगे। ठीक वैसे ही प्रभुका आश्रय ग्रहण करते ही प्रभुके गुण भी हमारे अन्दर प्रकट होने लगेंगे। दूसरे शब्दोंमें कहें तो यह कहना चाहिये कि हमारे अन्दर हमारे स्थानपर प्रभुकी सत्ता व्यक्त होने लगेगी। आज हमारे अन्तरालसे हमारा अहङ्कार बोलता है, अहङ्कार देखता है, सुनता है, स्पर्श करता है, सब कुछ अहङ्कार करता है; पर फिर हमारे इस अहङ्कारके प्रभु बोलना आरम्भ करेंगे, वे ही देखेंगे, सुनेंगे, स्पर्श करेंगे, सब कुछ वे करने लगेंगे। जहाँ वे ही सब कुछ कर रहे हैं, वहाँ अकर्मण्यताके लिये स्थान कहाँ? अकर्मण्यता तो तमोगुणका परिणाम है। प्रभु तो तीनों गुणोंसे अतीत हैं, किन्तु साथ ही अनन्त अप्राकृत गुणोंसे भी विभूषित हैं। सदा सबका सर्वथा मङ्गल करते रहना उनका स्वभाव है। उनका यह स्वभाव हमारे अन्दर अवश्य ही अभिव्यक्त होगा। हमारे द्वारा भी विश्वके समस्त प्राणियोंके हितकी सतत स्वाभाविक चेष्टा होगी। अतः हम यदि भगवदाश्रयके भ्रममें कहीं अकर्मण्य बनने लगें तो सावधान हो जाना चाहिये।

वास्तवमें प्रभुका आश्रय हो गया है या आश्रय होनेका भ्रम हो रहा है, इसकी कसौटी यह है—

(१) पूर्णरूपसे आश्रय ग्रहण करनेके पश्चात् प्रभुकी सत्ता हमारे हृदयमें सदा जागरूक रहेगी। प्रभु हैं, अवश्य हैं, सर्वत्र सबमें समाये हुए हैं। यह भावना हमें कभी नहीं छोड़ेगी। आकाशमें, वायुमें, तेजमें, जलमें, थलमें, मनुष्यमें, पशुमें, पक्षीमें, कीटमें, भृङ्गमें, स्थावरमें, जङ्गममें, जड़में, चेतनमें, कार्यमें, कारणमें, बड़ेमें, छोटेमें, गुणवान्‌में, गुणहीनमें, गोरेमें, कालेमें, सुन्दरमें, कुरूपमें—सर्वत्र एक ही प्रभु

नित्य विराजित हैं, यह विश्वास कभी शिथिल नहीं होगा, बल्कि उत्तरोत्तर दृढ़ होता जायगा।

(२) हम एवं हमसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्त वस्तुओंपर एकमात्र प्रभुका ही अधिकार है, यह धारणा सदा बनी रहेगी।

(३) जहाँ जिस समय जो कुछ जैसे हो रहा है, वहाँ वह सब कुछ सदा सभी प्रकारसे प्रभुके द्वारा हो रहा है और सर्वथा ठीक हो रहा है, कहीं भी तनिक भी भूल या प्रमाद नहीं है, मङ्गल-ही-मङ्गल हो रहा है, इस प्रकार प्रभुके प्रत्येक विधानमें पूर्ण सन्तोषकी सहज अनुभूति होगी।

(४) हमारी प्रत्येक चेष्टा प्रभुके लिये होगी एवं अहङ्कारसे शून्य होगी। प्रभु यन्त्री बनेंगे हम यन्त्र बन जायँगे। इस कोलाहलमय संसारमें हमारी इन्द्रियाँ, शरीर-मन-बुद्धि—सभी काम तो करते रहेंगे, पर ये सब-के-सब प्रभुकी मङ्गलमयी इच्छाका अनुसरण करेंगे। इसीलिये हमारी चेष्टामें अनाचार, दुराचार, द्रोह, द्वेष, दम्भ, कपट आदिकी गन्ध भी नहीं रहेगी। हमारी प्रत्येक चेष्टामें उत्कृष्ट सदाचार, विशुद्ध सेवाभाव और हित करनेका पवित्र उद्देश्य आदि ही भरे होंगे।

यदि उपर्युक्त बातें हममें आ गयी हैं, आ रही हैं तब तो समझना चाहिये कि प्रभुका आश्रय हुआ है, हो रहा है। अन्यथा हम मार्ग भूल गये हैं, बवण्डरमें ही अभीतक चक्कर काट रहे हैं, इस स्थितिमें हमारा उद्देश्य सफल होनेका नहीं, गिरेंगे, उठेंगे, पर फिर गिर जायँगे, हमारा भटकना बन्द नहीं होगा—यह मानना चाहिये। यही सत्य बात भी है।

किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं समझना चाहिये कि हमारे अन्दर इतनी बातें पूरी हों, तभी हम प्रभुका आश्रय पानेके अधिकारी होंगे। पूर्ण आश्रय ग्रहण करनेपर तो ये बातें अवश्य आ जायँगी, पर उससे

पूर्व हम जैसे हैं, उसी रूपमें आश्रय पानेके अधिकारी तो हैं ही। एक भिखारी अपने पेटकी ज्वाला शान्त करनेके लिये मुट्ठीभर अन्न पानेकी आशासे प्रभुका आश्रय ले सकता है। कोई वस्त्रहीना स्त्री बच्चोंका शरीर ढकनेके लिये पाँच गज वस्त्रकी इच्छासे आश्रय कर सकती है। कोई अपने परिवारके भरण-पोषणके निमित्त दस रुपयेकी नौकरी दिला देनेके लिये, कोई सिरपर आयी हुई विपत्तिको टाल देनेके लिये एवं कोई फोड़ेकी पीड़ासे कराहता हुआ पीड़ा हर लेनेके लिये प्रभुका आश्रय माँग सकता है। इस प्रकार विविध उद्देश्योंसे विविध व्यक्ति विविध अवसरोंपर प्रभुके आश्रयकी चाह कर सकते हैं। प्रभु अपना आश्रय सभीको देते भी हैं। उनका द्वार तो सदा सबके लिये समानभावसे खुला रहता है। उनके द्वारपर वे प्रहरी नहीं, जो मोटरपर चढ़कर आनेवालोंके लिये द्वार खोल देते हैं और धूलसे सने अस्थिपञ्जरमात्र हुए भिखारीको आते देखकर गरज उठते हों—'ठहर जा। कहाँ जाता है! अभी मिलनेका समय नहीं है; मालिक सो रहे हैं, यहाँसे दूर हट जा, तुझे द्वारपर खड़े देखकर मालिक नाराज हो जायँगे।' विश्वेश्वर प्रभुके द्वारपर वाणीसे विष बिखेरनेवाले ऐसे प्रहरी नहीं; वहाँ किसीको भी कोई रोकनेवाला नहीं, वहाँ तो सबके लिये समानभावसे अपरिसीम सुखका भण्डार खुला है, वहाँ पक्षपात नहीं है। प्रभुके लिये कौन प्रिय और कौन अप्रिय है? कौन अपना है, कौन पराया है। वे तो सबके आत्मा हैं, सबके प्रियतम हैं, अतः जो भी आश्रय लेने जाता है, उसीका—चाहे वह कितना भी पतित, उपेक्षित क्यों न हो—वे स्वागत ही करते हैं, उसे अपने हृदयसे लगा लेते हैं। उनके हृदयसे लग जानेपर, उनका आश्रय मिल जानेपर फिर भले ही चारों ओर संसारकी आँधी कितनी ही प्रबल वेगसे क्यों न बह रही हो, वह उसे स्पर्श कर नहीं सकेगी।

वह तो उस आँधीके अन्तरालमें ही प्रभुके समीप सुखकी अखण्ड समाधिमें विलीन हो जायगा। फिर उसे विचलित कौन कर सकता है? उसकी सुख-समाधि भङ्ग करनेकी सामर्थ्य किसमें है?

क्षणभरके लिये भी, किसी उद्देश्यसे भी यदि हम प्रभुका आश्रय ग्रहण कर सकें तो हमारा परम सौभाग्य है। यहाँसे निराश होनेपर हम कभी-कभी ऐसा करते भी हैं। पर भूल यह करते हैं कि उस आश्रयको पकड़े नहीं रहते, छोड़ देते हैं। जिस आवश्यकतासे हमने आश्रय लिया था, वह पूरी हुई कि आश्रय भी शिथिल हुआ, छूट गया। कदाचित् एक बार प्रभुका आश्रय ग्रहण कर, उनपर निर्भर होकर इसे हम अक्षुण्ण बनाये रख सकते तो आज हमारे सब ओर जो कर्मका—कर्म-फलका बवण्डर बह रहा है, इसमें पड़कर विवश हुए हम जो नाच रहे हैं नाचते-नाचते थक गये हैं, इससे त्राण पा जाते। फिर भी यह बवण्डर रहता तो अवश्य, किन्तु भयावह नहीं रहता, खेलकी वस्तु बन गया होता। हम प्रभुके हृदयमें रहकर इस खेलका आनन्द लेते रहते, आनन्दकी चिर समाधिमें अपने-आपको खो देते। मानव-जीवन सफल हो जाता।

★

# भगवान्‌का सम्बन्ध ही सच्चा सम्बन्ध है

सब प्रकारके सुख एवं सुविधाएँ हमें प्राप्त हों, धन-सम्पत्ति हो, मान-सम्मान हो, प्रभुत्व-अधिकार हो, हमारे सम्बन्धसे लोगोंका स्वार्थ सधता हो, स्वार्थ सधनेकी आशा हो, उस समय तो हमसे सम्बन्ध रखनेवालोंकी कमी नहीं होती। लोग हमसे सम्बन्ध दिखाकर अपना परिचय देनेमें गौरव अनुभव करते हैं। न होते हुए भी सम्बन्ध जोड़ लेते हैं; परन्तु जब पलड़ा बदलता है, आपत्ति-विपत्ति हमें चारों ओरसे घेर लेती है, हमारा वैभव नष्ट हो जाता है, पद-पदपर अपमान होता है, हमें कहीं टिकनेतकका अधिकार नहीं रह जाता, हमसे काम बननेकी बात दूर, हमारे सम्पर्कमें आनेसे मिथ्या कलङ्क लगनेकी सम्भावना हो जाती है, उस समय अधिकांश लोग हमसे सम्बन्ध तोड़ लेते हैं। कभी हमसे सम्बन्ध था, यह प्रकट होनेमें भी लज्जाका अनुभव करते हैं। सम्बन्धकी बात छिपानेकी चेष्टा करते हैं। यह मानवी दुर्बलता हममेंसे अधिकांशके जीवनमें समय आनेपर कम या अधिक मात्रामें व्यक्त हो ही जाती है। एकमात्र भगवान् ही ऐसे हैं, जो कभी भी किसीका भी किसी भी अवस्थामें साथ नहीं छोड़ते। वे आत्मारूपसे, अन्तर्यामी रूपसे सदा साथ रहते हैं। उनका अनन्त सौहार्द, हम चाहे कितने ही नीचे गिर जायँ, हमें मिलता ही रहता है। हमारा-उनका सम्बन्ध सदा एक-सा बना रहता है। अनादिकालसे बना है, अनन्तकालतक बना रहेगा।

कदाचित् हम अपने ऐसे नित्य साथीको पहचान पाते, प्रभुके साथ अपने नित्य-सम्बन्धकी हमें स्मृति हो जाती, वह स्मृति सदा बनी रहती, तो परिस्थिति भले कैसी ही क्यों न हो, हमारा जीवन अस्त-व्यस्त नहीं होता, हमें जो निराशा होती है, वह नहीं होती, जो नीरसताका बोध होता है, वह नहीं होता और जो असन्तोषका अनुभव होता है, वह भी नहीं होता।

यह स्पष्ट है कि हममेंसे प्रत्येककी रुचि भिन्न है। रुचिके अनुरूप ही हमारा उद्देश्य होता है तथा जैसा उद्देश्य है, उसीके अनुसार कार्यक्षेत्रका निर्माण होता है। किसीका उद्देश्य स्वदेशकी सेवा है, किसीका समाज-सुधार है, किसीका दीन-दुःखियोंका दुःख बँटाना

है—ऐसे भिन्न-भिन्न उद्देश्योंको लेकर हम कार्यक्षेत्रमें उतरते हैं। हमारे उद्देश्यसे जिनका मेल होता है, उनके सम्पर्कमें हम आते हैं और उनके साथ एक सम्बन्ध-सा स्थापित हो जाता है। फिर परस्पर आदान-प्रदान होता है। अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये हम जो उन्हें दे सकते हैं, देते हैं; उनसे जो लेना सम्भव है, लेते हैं। पर यह सम्बन्ध निभता तभीतक है, जबतक हम अपने प्रयासमें सफल होते जाते हैं, जगत्‌की दृष्टिमें सफल होते दीखते हैं। जहाँ असफलताकी बारी आयी, लोगोंको यह अनुभव हुआ कि हमसे उन्हें उनकी इच्छित वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी कि बस, वहीं वे सम्बन्ध तोड़ने लगते हैं। जो सम्बन्ध नहीं तोड़ते, उनके सहयोगमें भी शिथिलता तो आ ही जाती है। पहले-जैसा उत्साह उनकी ओरसे भी हमें प्राप्त नहीं होता। साथी हमारी असफलताके कारणोंपर विचार नहीं करते; असफल होनेपर भी हमारा उद्देश्य अभीतक ज्यों-का-त्यों वही है, इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता। वे तो बस देखते हैं कि सफलता हमारा साथ दे रही है या नहीं? हमारी सफलता एवं असफलतापर ही उनके सम्बन्धका बना रहना और टूट जाना निर्भर करता है। सफल हैं, तबतक सभीका सम्बन्ध है, सभीका सहयोग हमें मिलता है, सभी हाथ बँटाते हैं। असफल हुए कि सम्बन्ध भी समाप्त हुआ, उनसे जो सहायता और प्रीति प्राप्त थी, वह भी समाप्त हो गयी, सभीने हाथ खींच लिये। इसका परिणाम यह होता है कि उस समय एक अजब-सी उधेड़-बुनमें हम पड़ जाते हैं; क्या करें, क्या न करें—कुछ भी स्थिर नहीं कर पाते। निराशा घेर लेती है, जीवनका रस निकल-सा जाता है, कहीं भी सन्तोष प्राप्त नहीं होता, ऐसा इसीलिये होता है कि हम ऐसे सम्बन्धपर निर्भर करते हैं जो स्थायी नहीं है, जो किसी हेतुको लेकर स्थापित होता है और हेतुके पूर्ण न होनेपर मिट जाता है। प्रभुके साथ हमारा जो अहैतुक नित्य-सम्बन्ध है, यदि उसे हम जान लेते, उसपर हम निर्भर करते, एकमात्र प्रभुके ही सहयोगपर भरोसा रखकर अपने उद्देश्यकी पूर्ति

करने चलते तो उलझन कदापि पैदा न होती, हमारी आशामें कभी ठेस नहीं लगती, जीवन उत्तरोत्तर आनन्दसे भरता जाता और सन्तोष पद-पदपर हमारा स्वागत करने आता।

प्रथम तो यहाँका सम्बन्ध स्थायी नहीं; क्योंकि सहेतुक है तथा इसीलिये यहाँके सम्बन्धमें विशुद्ध सौहार्द भी नहीं। विशुद्ध प्रेममें कोई भी हेतु नहीं होता और जहाँ विशुद्ध प्रेम नहीं, वहाँ हमारे लिये कोई अपना सर्वस्व दान कर दे, यह सम्भव नहीं। यहाँके स्थापित सम्बन्धमें यह दूसरी त्रुटि है। तीसरी बात यह कि हमारा जिनसे सम्बन्ध होता है, उनकी शक्ति-सामर्थ्यकी भी एक सीमा है, उस सीमाके भीतर रहकर ही वे हमारी सहायता करते हैं, कर सकते हैं। चौथी बात यह कि उनका ज्ञान भी देश-कालसे सीमित है, वे नहीं जानते, नहीं जान सकते कि विश्वके किस स्तरमें कहाँ क्या हो रहा है, कल क्या हुआ है और कल क्या होगा। उनके पास जो सीमित ज्ञान है, उसीके आधारपर ही वे हमारे साथ सम्बन्ध रखकर सम्बन्धके अनुरूप कर्तव्योंका पालन करते हैं। इसीलिये न जाने कितनी बार भूल भी कर बैठते हैं, किन्तु प्रभुके साथ हमारा जो सम्बन्ध है वह तो अनादि है, सदा स्थिर एकरस रहनेवाला है। उनके सम्बन्धमें कोई हेतु नहीं। वह सम्बन्ध अत्यन्त निर्मल, अपरिसीम प्रेमसे भरा है। इसीसे वे हमारे लिये अपना सर्वस्व दान भी करते हैं। प्रभुकी शक्ति-सामर्थ्यकी भी सीमा नहीं, वह तो अनन्त असीम है। उनके लिये यह कहना नहीं बनता कि प्रभु यह तो कर सकते हैं और यह नहीं कर सकते। वे सर्वसमर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं, असम्भवको सम्भव कर सकते हैं। साथ ही वे सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं, अतीत, वर्तमान, भविष्यका अणु-अणु उन्हें ज्ञात है; अगणित विश्व-ब्रह्माण्डमें कहाँ किस समय क्या हुआ, क्या हो रहा है और क्या होगा, इसको वे पूरा-पूरा जानते हैं। इसीलिये उनसे कभी तनिक-सी भी भूल नहीं होती। ऐसे प्रभुको, प्रभुके साथ अपने नित्य-सम्बन्धको यदि हम जान लें, उनके सम्बन्धका ही एकमात्र भरोसा

करके हम अपने कार्यक्षेत्रमें उतरें, तब सफलता, आनन्द और सन्तोष तो आगे-से-आगे हमें वरण करनेके लिये तैयार खड़े मिलेंगे ही।

प्रश्न होता है कि जब हमारा ऐसे महामहिम प्रेममय प्रभुसे नित्य-सम्बन्ध है, वे कभी हमारा साथ नहीं छोड़ते, तब हम उनको आखिर जान क्यों नहीं पाते ? उनको जानकर, नित्य-सम्बन्धका अनुभव करके हम उन्हींपर निर्भर क्यों नहीं करते ? तो इसका उत्तर यह है कि हमारी इन्द्रियाँ स्वभावसे बहिर्मुखी हैं, बाहरकी ओर देखती हैं, भीतर की ओर नहीं—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः'

इसीलिये सबके अन्तरालमें विराजित प्रभुको हम नहीं जान पाते तथा तबतक जान भी नहीं पायँगे, जबतक इन्द्रियोंका प्रवाह बाहरकी ओरसे मुड़कर अन्तर्मुख न बन जाय, प्रभुकी ओर न हो जाय। अभी तो अन्तर्मुख होनेकी बात दूर, सत्त्वमुखी प्रवाह भी नहीं है; हमारी इन्द्रियाँ प्रगाढ़ तमोगुणकी ओर दौड़ रही हैं।

हम अपने मनके भावोंका विश्लेषण करके देखें तो पता चलेगा कि हममेंसे अधिकांशके मन तपोमय आसुरभावोंसे भरे हैं। अधिकांश इस बातको जानतेतक नहीं कि किस-किस कर्मसे हमारा अपना एवं दूसरोंका, इस जीवनमें एवं जीवनके पश्चात् परलोकमें यथार्थ कल्याण होना सम्भव है, ऐसे किस-किस कर्ममें हमें लगना चाहिये तथा ऐसे कौन-कौनसे कर्म हैं, जिनसे हमारा अपना एवं दूसरोंका अकल्याण निश्चित है, जिनसे हमें अवश्य बचना चाहिये। इस ज्ञानका अभाव होनेके कारण हम मनमाने कर्म करते हैं। इनका अन्ततः परिणाम क्या होगा, इस ओर तो हमारा ध्यान ही नहीं रहता। हममें पवित्रता नहीं, सदाचार नहीं, फिर सत्य तो होता ही कैसे ? तमोऽभिभूत मनके फेरमें पड़कर कोई-कोई तो यहाँतक बहक जाते हैं और पुकार उठते हैं—'अरे देखो, ईश्वर नामकी कोई वस्तु नहीं है; जगत्‌का निर्माण करनेवाला जगदाधार कोई ईश्वर है, ऐसा मानना भ्रम है, जगत् तो अपने-आप बनता है, स्त्री-पुरुषका सम्भोग हुआ और जगत् बन गया, कामभोगका

परिणाम यह जगत् है, कामके अतिरिक्त और कोई भी जगत्‌का अन्य कारण है ही नहीं; हम-तुम सभी कामोपभोगके फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं तथा सोच लो, उत्पन्न होनेसे पूर्व हमारी कोई सत्ता नहीं थी; मृत्युके पश्चात् कोई सत्ता रहेगी भी नहीं !' हमारी यह भ्रान्त धारणा हमें इतना उच्छृङ्खल, इतना कठोर बना देती है कि भयानक-से-भयानक कर्म करनेमें हमें तनिक-सी भी हिचक नहीं होती, जगत्‌के ध्वंसका बीज अपने हाथोंसे बोनेमें हम तनिक भी सङ्कुचित नहीं होते। भोग-वासनाकी आग इतनी अधिक प्रज्वलित हो गयी है कि अब बुझनेकी आशा ही प्रायः नहीं रही। दम्भ तो हमारा स्वभाव बन गया है, मान-मद चिरसङ्गी हो गये हैं। मिथ्या आग्रह, अपवित्र व्यवहार हमारे लिये गौरवकी वस्तु है। अन्तिम श्वास आ रहे हैं, पर चिन्ता लगी है भोगोंकी। क्यों न हो, जीवनकी सार्थकता अधिक-से-अधिक भोगोंको भोगनेमें ही है, यह हमारा निश्चय जो बन गया है। भोग-प्राप्तिके सैकड़ों-हजारों उपायोंमें मन फँसा है। पर प्रधान उपाय तो धन है। धन पासमें है तो फिर भोग इसके मूल्यमें प्राप्त हो ही जायँगे। अतः हमें तो धन एकत्र करना है, न्यायसे, अन्यायसे, चाहे जैसे हो वैसे आने चाहिये। अजी, देख लो ! इतना धन हमने कमा लिया और देखते रहना इतना और कमा ही लेंगे। हमारे ये-ये मनोरथ थे, वे तो सब-के-सब पूरे हो गये, अब अमुक-अमुक इच्छाएँ रही हैं, देख लेना—इनकी पूर्ति भी करके छोड़ेंगे। भला, अमुक सज्जन आये थे हमारे मार्गमें रोड़े बनकर ! जाकर देखो, उनकी चिता जल रही है। इन्हींके तीन साथी और हैं, कुछ ही दिनोंमें यदि वे तीनों भी चिताकी राख न बन गये तो तुम कहना। यहाँ तुम्हारे ईश्वरका शासन नहीं चलेगा, यहाँके ईश्वर तो हम हैं, हमारा शासन रहेगा। हमने कभी बाजी हारी हो तो बताओ ! जिस कार्यमें

हाथ डाला, वही सिद्ध होकर रहा। ऐसी सिद्धि रखनेवाला सिद्ध हमारे अतिरिक्त कोई और है क्या ? हमारे-जितनी शक्ति किसमें है ? हमारे समान सुखी कौन है ? धनमें, जनमें हमारी होड़ करनेका साहस किसमें है ? किसी बातमें भी हमारे समकक्ष होनेका दम भरनेवाला कोई है ? हम इतनी संस्थाओंका संचालन करते हैं, इतनीका और करनेवाले हैं, करके छोड़ेंगे। पैसे हमने कमाये ही हैं, इसीलिये कि इनसे अधिक-अधिक शुभ कर्म करेंगे, लोगोंको दान देंगे, कीर्ति कमायेंगे और मौज भी करेंगे—इस प्रकारके अगणित आसुरभावोंसे हमारा मन भरा है, ऐसी तमोमयी भावनाओंसे हमारी इन्द्रियाँ नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर—सब ओरसे पूर्ण हो रही हैं। अब ऐसे तमसाच्छन्न मन एवं इन्द्रियोंको अन्तर्मुख कर लेना सहज काम थोड़े ही है! इन्हें तो पहले क्रमशः सत्त्वमुखी करना पड़ेगा। दृढ़ अभ्यासके द्वारा इनकी धारा सत्त्वगुणकी ओर मोड़नी पड़ेगी। जब इनमें सत्त्वगुणकी प्रतिष्ठा होने लगेगी, तभी ये अन्तर्मुख हो सकेंगे, प्रभुकी ओर इनका मुख हो सकेगा।

इन्हें सत्त्वमुखी करनेके लिये निम्नलिखित बातोंको ध्यानमें रखना आवश्यक है—

(१) सबसे पहले हमारा यह दृढ़ विश्वास हो कि प्रभु हैं, अवश्य हैं, निस्सन्देह हैं। जबतक यह विश्वास नहीं होगा, तबतक हमारा कोई भी प्रयास इस दिशामें सफल नहीं हो सकेगा। प्रभुकी सत्तामें विश्वास न करनेवालेकी इन्द्रियाँ कभी सत्त्वमुखी हो ही नहीं सकतीं—'

**'असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।'**

'जो समझता है कि ईश्वर नहीं है, वह सदाचारसे भ्रष्ट हो ही जाता है।'

(२) हमारे अन्दर जैसे संस्कार सञ्चित हैं, उन्हींके अनुरूप मनसे

स्फुरणाएँ होती हैं और फिर इन्द्रियोंसे कर्म बनते हैं। हमें गम्भीरतासे विचार करना पड़ेगा कि हमारी स्फुरणाएँ शुभ हैं या अशुभ। जिन स्फुरणाओंसे हमारा एवं जगत्‌के प्रत्येक प्राणीका परिणाममें भला हो, वे तो शुभ हैं तथा जिनसे हमारा एवं जगत्‌का परिणाममें बुरा हो, वे अशुभ हैं। यदि शुभ स्फुरणाएँ होती हैं, तब तो सुन्दर बात है ही, अन्यथा अशुभ स्फुरणाओंका दमन करना ही पड़ेगा। इसके लिये सर्वोत्तम साधन है शुभमय वातावरणमें निवास। जिन सत्पुरुषोंमें दैवी गुणोंका विकास हो चुका है, जिन स्थानोंमें दैवी भावके परमाणु भरे हैं, वहाँ उनके पवित्र सङ्गका यथासम्भव अधिक-से-अधिक सेवन करना। इससे अशुभका दमन एवं शुभका उन्मेष हममें अवश्य होगा।

(२) कुछ किये बिना तो हम रह नहीं सकते; मन, इन्द्रियों एवं शरीरसे कुछ-न-कुछ कर्म होते ही रहेंगे; किन्तु संस्कारवश हमारा स्वभाव बन जाता है कि किसी कर्मके प्रति—शुभ हो या अशुभ—हमारी अत्यधिक प्रवृत्ति हो जाती है। हमारा दृढ़ आग्रह हो जाता है कि हम तो यही करेंगे। यदि वह अशुभ कर्म है तब तो उसका अविलम्ब परित्याग कर ही देना चाहिये; किन्तु यदि वह शुभ भी हो तो उसमेंसे हम अपनी आसक्ति शिथिल करें। हम अपनेको प्रभुका सेवक समझें। सेवकका यह आग्रह कदापि नहीं होता कि हम तो अपने स्वामीकी अमुक सेवा ही करेंगे। सेवकका जीवन सेवाके लिये होता है। मालिककी रुचि देखकर ही वह अपनी सेवा समर्पित करता है। स्वामीकी रुचि यदि यह है कि अमुक सेवक घरमें झाड़ू लगानेका ही कार्य करे तो सेवकका यह आग्रह क्यों हो कि नहीं, हम तो आपको संगीत सुनाया करेंगे। प्रभु यदि यह चाहते हैं कि अपने घरको आश्रमके रूपमें परिणत कर दो, वृक्षके नीचे पड़े हुए असहाय, रुग्ण

भिखारियोंको आश्रय देकर उनकी सेवा करो तो हमारा यह आग्रह क्यों हो कि नहीं, हम तो व्याख्यान देकर जनतामें फैली कुरीतियोंको ही मिटायेंगे। हमें तो उसी कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये जिसमें प्रभुकी रुचि है। प्रभुकी रुचि हमें किस कर्ममें प्रवृत्त करनेकी होगी, इस बातको इस कसौटीपर कसकर हम निर्णय कर लें—(क) कर्म परम शुभ है, (ख) इसे करनेके लिये कम-से-कम आदमी आगे बढ़ रहे हैं, (ग) इसे करनेकी योग्यता हमारे अन्दर प्रभुने दी है। बस, यही कर्म है, जिसमें हमें लगना है, इसीके लिये प्रभुकी रुचि है, इसीमें हम लगें। पर सावधान रहें, कहीं इसमें भी हमारी आसक्ति न हो जाय, इसके बदले यदि प्रभु फिर किसी अन्य कार्यका भार सौंपें तो समान प्रसन्नतासे ही हम इसे छोड़कर उसमें प्रवृत्त हो सकें।

(४) हम पहलेसे ही किसी निश्चित फलकी कामना रखकर ही किसी कर्ममें लगते हैं। हमारे इस कर्मका अमुक फल हो, यह इच्छा पहले ही मनमें उदय हो जाती है। इस फलकी इच्छाको हमें छोड़ना पड़ेगा। प्रभुने जो काम सौंपा है, उसे पूरी तत्परतासे हमें करना है, हम कर रहे हैं, किन्तु इसका फल क्या होगा, यह प्रभु जानें; उनकी जो इच्छा हो, इस कर्मका वही फल हो। इस भावनाको सुदृढ़ करके, अन्ततक सुदृढ़ रखते हुए ही हमें कर्ममें लगना चाहिये। साथ ही शुभके आचरणसे प्राप्त होनेवाली प्रतिष्ठा, मान-सम्मान आदिमें भी हम फँस न जायँ, प्रभुके आज्ञा पालनका भाव हटकर कहीं मान-बड़ाईकी प्राप्ति हमारे कर्मका उद्देश्य न बन जाय, इसके लिये भी हम सदा सजग रहें। यह बात कहने-सुननेमें जितनी सरल है, आचरणमें उतनी नहीं। पर्वतके समान दृढ़ अचल निश्चय हो,अविराम सतत प्रयत्न हो, प्रभुकी कृपाका सम्बल हो—तभी इसमें सफलता मिलती है।

अतः बड़ी लगनसे हमें इसके लिये प्रयत्न करना होगा।

(५) हम सोचकर देखें, इन्द्रियोंमें अपने-अपने कार्य-सम्पादनकी शक्ति कहाँसे आती है? नेत्रोंमें देखनेकी शक्ति, कानोंमें श्रवणकी शक्ति, नाकमें घ्राणकी शक्ति—ये सब कहाँसे आयीं? वाणीमें बोलनेकी शक्ति, हाथमें ग्रहण-त्यागकी शक्ति, पैरोंमें चलनेकी शक्ति—ये सब शक्तियाँ किसने दी हैं? मनमें सोचने-विचारनेकी, बुद्धिमें निश्चय करनेकी शक्ति किसकी दी हुई है? प्राणोंमें जीवित रखनेकी शक्ति किसकी है? हमारा शरीर किसकी शक्तिपर अवलम्बित है। ये सब शक्तियाँ प्रभुकी ही तो हैं। प्रभुसे ही तो हमें प्राप्त होती हैं। एकमात्र प्रभुकी शक्तिसे शक्तिमान् होकर ही तो इन्द्रिय, मन, शरीर कर्म करनेमें समर्थ होते हैं, कर्म कर पाते हैं। फिर हम जो पद-पदपर कह बैठते हैं 'यह हमने किया; यह हमारा 'मैं' कितनी निरर्थक, कितनी मिथ्या वस्तु है?' अतः इस अहङ्कारकी वृत्तिको हमें नष्ट करना चाहिये।

(६) समुदायका प्रवाह तमोगुणकी ओर है। अतः जिस समय हम सत्त्वगुणकी ओर अपने जीवनको मोड़ने चलेंगे, उस समय अनेक विघ्न-बाधाएँ हमारी प्रगति रोकनेके लिये, हमें पीछे लौटा देनेके लिये सामने आयेंगी। यदि पर्याप्त धैर्य हममें नहीं होगा तो उसी तमोमय प्रवाहमें हम पहलेकी भाँति बह चलेंगे, इसलिये धैर्य धारण करें, उन विविध विघ्न-बाधाओंसे हम तनिक भी विचलित न हों। जय सत्यकी ही होगी। अन्तमें सत्त्वमुखी प्रवाह ही विजयी होगा, यह विश्वास करके सदा अपने निश्चयके अनुरूप कार्य करते रहें। विघ्न-बाधाओंको देखकर हम धैर्य न खो दें, अपितु दूने उत्साहसे आगे बढ़ें।

(७) यदि हमारा कोई कार्य सफल हो जाय तो हम हर्षसे

फूलकर कुप्पा न बन जायँ, कार्य विफल हो जाय तो शोकमें भरकर सिर न पीटने लगें—यह सावधानी प्रत्येक कार्यका परिणाम ग्रहण करते समय अवश्य रहे। सफलता हुई है प्रभुकी इच्छासे, असफलता आयी है प्रभुकी इच्छासे। दोनोंको ग्रहण करते समय प्रभुकी इच्छा पूर्ण हो रही है, इस भावनाका समरस आनन्द ही हमारे मनको स्पर्श करे, हर्ष-शोकके विकार हमें छू न लें—इसके लिये भी हम दृढ़ प्रयत्न करें।

उपर्युक्त बातोंको ध्यानमें रखकर यदि हम सतत प्रयत्न करेंगे तो हमारी इन्द्रियोंका प्रवाह क्रमशः सत्त्वमुखी होने लगेगा। सत्त्वगुण भरनेपर ही ये अन्तरकी ओर, प्रभुकी ओर दौड़ सकेंगी। तभी त्रिगुणातीत, दिव्य चिन्मय अनन्तगुणगणभूषित आनन्दमय प्रभुका हम स्पर्श पा सकेंगे, उन्हें पहचान पायेंगे। तभी हमारे इतने निकट नित्य अवस्थित प्रभुके सम्बन्धकी भी हमें पहचान होगी। उस समय वास्तवमें हमारी क्या अनुभूति होगी, वाणीमें यह बतानेकी तो सामर्थ्य नहीं है। वह इतना ही कह सकती है कि हमें उस समय अनुभव होगा कि प्रभुका— भगवान्‌का सम्बन्ध ही सच्चा सम्बन्ध है। अन्य सम्बन्धोंकी कल्पना भी इसीलिये हो पाती है कि उन-उन स्थलोंमें प्रभुकी छाया पड़ती है, वे सम्बन्ध प्रभुकी छायापर अवलम्बित हैं, पर हैं वे अस्थायी। निर्भर करने योग्य एवं सत्य तो एकमात्र प्रभुका सम्बन्ध ही है।

—★—

# भगवान्‌की पूजा-आरती

मन्दिरमें प्रभुके श्रीविग्रहके सामने हम विविध सामग्रियोंसे उनकी पूजा करते हैं; उन्हें धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल अर्पण करते हैं; उनकी आरती उतारते हैं; उनके लिये सुन्दर शय्या बिछाकर उन्हें शयन कराते हैं तथा फिर बड़े भावसे बीजना (पङ्खा) डुलाकर उनकी सेवा करते हैं, ऐसा करना बड़े सौभाग्यकी बात है, अवश्य-अवश्य करना चाहिये। पर यदि इस पूजाके साथ ही हम विश्वरूप भगवान्‌की पूजाको भी अपनी दिनचर्यामें सम्मिलित कर लेते तो हमारा जीवन फिर पूजामय बन जाता, हमारी पूजा सर्वाङ्गीण पूजा हो जाती।

यदि हृदयमें प्रभुकी ज्योति जग गयी है तथा उस ज्योतिके आलोकमें मन्दिरके देवता—श्रीविग्रहके रूपमें विराजित प्रभु हमारी दृष्टिके सामने सर्वथा चिन्मय बन गये हैं, एक क्षणके लिये भी हमें यह अनुभूति नहीं होती कि ये धातु-पाषाण आदिसे बनी हुई मूर्ति है, तब तो कुछ कहना बनता ही नहीं; क्योंकि फिर तो हमारे द्वारा विश्वरूप प्रभुकी उपेक्षा सम्भव ही नहीं। हमारी दृष्टिमें विश्वकी सत्ता ही नहीं रहेगी, एकमात्र प्रभु-ही-प्रभु रहेंगे और यदि कहीं विश्वकी सत्ता रहेगी भी तो विश्वके अणु-अणुमें हमें अपने इष्टदेव ही भरे दीखेंगे। जितने आदरसे, जिस प्रेमसे हम मन्दिरमें भेंट चढ़ायेंगे, उतने ही आदरसे, उसी प्रेमसे विश्वरूप प्रभुको भी हम यथायोग्य यथासम्भव उपहार समर्पित करेंगे; किन्तु जबतक यह ज्योति नहीं जगी है तबतक सावधान होकर हमें अपनी पूजाको विशुद्ध एवं परिपूर्ण बनानेकी चेष्टा करनी पड़ेगी।

हम देखते हैं कि पूजा समाप्त करनेके बाद जब हमें भूखकी अनुभूति होती है, तब हम स्वयं प्रसाद ग्रहण करते हैं तथा इष्ट-मित्रोंको भी प्रसाद देते हैं। हमें जब शीतका अनुभव होता है तब हम अपने अङ्गोंको आवश्यक वस्त्रोंसे ढकते हैं। जब हमारे शरीरमें रोग होते हैं,

तब उनको दूर करनेके लिये हम ओषधियोंका भी सेवन करते हैं, किन्तु ऐसा करते समय सभी तो नहीं, पर हममेंसे अधिकांश इस बातको भूल जाते हैं कि अभी-अभी हम जिन प्रभुकी पूजा मन्दिरमें कर आये हैं, वे ही प्रभु पुनः हमारी पूजा ग्रहण करनेके लिये विविध रूप धारण किये बाहर खड़े हैं। वे ही स्वच्छ शुद्ध वस्त्र धारण किये, सिरपर तिलक लगाये, निर्मल पवित्र धातुपात्र हाथमें लिये हुए सन्तमण्डलीके रूपमें प्रसाद पानेकी शान्तिसे बाट देख रहे हैं तथा वे ही अपने अङ्गोंमें चिथड़ा लपेटे, धूलमें सने, टीनका टूटा डिब्बा हाथमें लिये कङ्गाल बनकर कुछ भी दे देनेके लिये करुण पुकार मचा रहे हैं। एक रूपमें वे शरीरपर ऊनी वस्त्र धारण किये भद्रपुरुषके वेशमें हमारी बैठकमें हमसे गरीबोंको कम्बल बाँटनेके सम्बन्धमें परामर्श एवं सहायता लेने आये हैं तथा दूसरे रूपमें वे ही हमारे द्वारके बाहर खड़े रहकर जाड़ेसे ठिठुरते हुए हमारे बाहर आनेकी बाट देख रहे हैं और ठण्डसे बचनेके लिये हमें चादर ओढ़ते देखकर, 'बाबूजी ! जाड़ेसे मरा जा रहा हूँ, एक पुराने टाटका टुकड़ा मुझे भी दे दो, भगवान् तुम्हारा भला करेगा, ऐसा बार-बार चिल्ला रहे हैं।' हम जिस समय सब प्रकारसे सजे हुए कमरेमें मोटे गद्देपर तकियेके सहारे बैठे यह कह रहे हैं—'वैद्यजी ! पूजा करते समय मामूली सिर-दर्द हो गया था, अभीतक वह मिटा नहीं, इसीसे भगवान्की पूजाके समय भी कुछ विक्षेप हुआ!' और वैद्यजीसे अपने रोग-नाशके लिये दवाकी व्यवस्था करवा रहे हैं; ठीक उसी समय वे प्रभु मन्दिरमें विराजित रहनेवाले वे हमारे इष्टदेव ही पेचिश रोगसे पीड़ित, अत्यन्त दुर्बल, अनाथ भिखारीके वेशमें सड़कपर पड़े हुए होते हैं तथा हमारे पास एक दूसरे रूपसे सूचना भेजते हैं कि 'बाबूजी ! एक भिखारी पड़ा है, उसके सारे कपड़े टट्टीमें सन गये हैं, बड़ा ही दुर्बल और दुःखी है, उसकी कुछ व्यवस्था होनी चाहिये।' किन्तु ऐसे अवसरोंपर हमें यह याद नहीं रहता कि इन सभी रूपोंमें प्रभु ही हमारी पूजा ग्रहण करने आते हैं। इसीलिये हम कभी तो उनकी

उपेक्षा कर देते हैं तथा कभी-कभी उनके प्रति बहुत बुरा व्यवहार कर बैठते हैं। यदि हम प्रभुको इन सभी रूपोंमें पहचान पाते तो जो सुख हमें स्वयं प्रसाद पानेमें, जो आदर-प्रेम-भाव अपने इष्ट-मित्रोंको प्रसाद देनेमें होता है, उससे बहुत अधिक रूप एवं प्रेमकी अनुभूति भिखारीके टीनवाले पात्रमें भोजन परसते समय होती। जो रस हमें स्वयं ऊनी कपड़े ओढ़नेपर ठण्ड मिटनेसे प्राप्त होता है, उससे बहुत अधिक बढ़कर रस हमें उस दीन-हीन सर्दीसे ठिठुरते हुएको कपड़ा देनेमें प्राप्त होता। जो तत्परता अपने रोगको दूर करनेके लिये हममें होती है, उससे बहुत अधिक मात्रामें लगन उस रुग्ण अनाथ व्यक्तिकी समुचित व्यवस्था एवं सेवा करनेमें होती। पर हममें तो इनसे विपरीत भाव होते हैं। इसीलिये हमारी पूजा भी अधूरी ही रह जाती है।

प्रभुको पहचाननेवाले भक्तके द्वारा पूजा कैसी होती है, यह हमें जानना चाहिये। सन्त एकनाथके जीवनकी एक घटना है, जिससे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। उस समय भारतवर्षमें रेल नहीं थी। दक्षिण भारतसे उत्तरकी सीमा हिमालयकी गङ्गोत्तरीतक आना सहज काम नहीं था। हृदयमें प्रभुकी झाँकी करते हुए सन्त एकनाथ गङ्गोत्तरी आये, वहाँके पुनीत जलको काँवरमें भरकर ले चले; काशी होते हुए रामेश्वरकी ओर जाने लगे; वहाँ जाकर उस जलसे वे प्रभुकी पूजा करना चाहते थे। धीरे-धीरे रामेश्वर निकट आने लगा, अत्यन्त समीप आ गया। ग्रीष्मऋतु थी। एक दिन दुपहरीकी जलती धूपमें एकनाथने रेतीले मैदानमें एक गधेको पड़े छटपटाते देखा—वे उसके निकट चले गये। देखा—प्याससे उस असहाय पशुकी बुरी दशा हो रही है। नाथको अनुभव हुआ, मेरी पूजा स्वीकार करनेके लिये ही प्रभु यहीं पधार गये हैं। अविलम्ब उन्होंने काँवर उतारी और गङ्गोत्तरीका वह पुनीत जल गधेके मुखमें डालना आरम्भ किया। ठण्ढा जल पीनेसे उस मरणासन्न प्राणीमें नवीन प्राणोंका सञ्चार हो आया। गधा उठ खड़ा हुआ तथा सुखपूर्वक एक ओर चला गया। एकनाथकी पूजा सम्पन्न

हो गयी। वे उल्लासमें भर रहे थे, किंतु उनके अन्य साथी दुःख कर रहे थे कि 'हाय, इतने परिश्रमसे लाया हुआ गङ्गोत्तरीका जल व्यर्थ चला गया। रामेश्वर जाकर इससे प्रभुकी पूजा नहीं हो सकी। इस जीवनमें पुनः गङ्गोत्तरीसे जल लाकर पूजा हो सकेगी, यह तो सम्भव नहीं।' उनकी भावना देखकर एकनाथ हँसे। हँसकर बोले—'भाइयो! शरीरका पर्दा हटाकर देखो, फिर दीखेगा कि एकमात्र प्रभु ही सर्वत्र परिपूर्ण हैं। मेरी पूजा तो रामेश्वरके मन्दिरमें विराजित स्वयं प्रभुने यहींसे स्वीकार कर ली।

अब कहीं हम भी सन्त एकनाथकी तरह विश्वके कण-कणमें विराजित प्रभुको पहचान सकते तो हमारी पूजा भी सर्वाङ्गीण पूजा बन जाती। हमारी आजकी जो यह दशा है कि पासकी नदीसे जल भरकर हम किसी मन्दिरमें प्रभुकी पूजा करने चलते हैं, मन्दिरसे कुछ दूरपर ही हमें एक ऐसा असहाय, उपेक्षित प्राणी—पशु नहीं, मनुष्य—मिलता है, जिसके अन्तिम श्वास आ रहे हों, हमारी दृष्टि भी उसपर पड़ जाती है, किन्तु हम उस ओरसे दृष्टि हटा लेते हैं, क्षणभरके लिये रुककर कौतुहलकी दृष्टिसे हम भले कुछ पूछ-ताछ कर लें, पर आखिर हमारा भी उस मरणासन्न व्यक्तिके प्रति कोई कर्तव्य है, यह भावना भी हमारे मनमें नहीं उदय होती। अधिक-से-अधिक कुछ हुआ तो इतना कि करुणामिश्रित दो-चार शब्द मुँहसे उच्चारण कर लेते हैं और फिर मन्दिरमें पूजा करने चले जाते हैं। इतना भी नहीं करते कि अपने लोटेके जलकी कुछ बूँदें उस मुमूर्षुके सूखते हुए कण्ठमें तो डाल दें—हमारी ऐसी दशा प्रभुको पहचाननेपर कदापि नहीं होती। फिर तो हमें भी यह दीखता कि मन्दिरके देवता हमारी पूजा ग्रहण करनेके लिये यहाँ इस रूपमें प्रकट हो गये हैं तथा उस समय केवल जल ही नहीं, हमारे पास जो कुछ भी साधन प्राप्त हैं, हमारे द्वारा जो कुछ भी होना सम्भव है, उन सबका पूर्ण उपयोग करते हुए पूरी तत्परतासे हम उस रूपमें विराजित प्रभुकी पूजामें ही जुट पड़ते।

कभी-कभी हम ऐसा सोचते हैं कि 'क्या करें, विश्वरूप भगवान्‌की पूजाके उपयुक्त साधन ही हमारे पास नहीं हैं। साधनके अभाववश ही हम पूजा नहीं कर पाते।' पर ऐसी धारणा हमारे मनका भ्रम ही है! यह बात बिल्कुल नहीं है कि जो साधन हमारे पास नहीं हों वे हो जायँ तभी प्रभुकी पूजा होगी। असलमें तो हमारे अन्दर पूजाकी सच्ची चाह होनी चाहिये। चाह होनेपर हम अपने द्वारा होनेवाले प्रत्येक कर्मसे, प्रत्येक चेष्टासे उनकी पूजा कर सकते हैं। जीवन-निर्वाहके लिये आखिर कोई-न-कोई कार्य तो हम करते ही हैं। हम दूकानदार हैं—चावल, दाल, नमक, मसाला, घी, चीनी, बर्तन, बासन, कपड़ा, गहना, हीरा, मोती आदिमेंसे किसी वस्तुकी हमारी दूकान है। दूकानपर हम प्रतिदिन दस घण्टे नियमसे बैठते हैं। अब सोचकर देखें, ग्राहकके रूपमें हमारी दूकानपर कौन आता है? प्रभु ही तो आते हैं। फिर प्रभुको उस रूपमें देखकर, पहचानकर, सम्मानपूर्वक उचित मूल्य लेकर उनकी सेवाकी दृष्टिसे यदि हम उन्हें ईमानदारीके साथ अच्छी वस्तु दे देते हैं, तो यह माल बेचना ही हमारी पूजा हो जायगी; किन्तु हमारी वृत्ति तो यह होती है कि ग्राहकसे अधिक-से-अधिक मूल्य लेकर बदलेमें घटिया माल उसके हाथमें खपा दें। हम नमूनेमें कुछ दिखाते हैं और देते समय देते कुछ दूसरा ही हैं। इस प्रकार अपने ही इष्टदेवकी हम वञ्चना करते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें ठगकर उलटा हम उन्हींपर झूठा अहसान लादते हैं कि 'देखो जी! यह वस्तु इतने मूल्यमें हमने आपको दे दी, दूसरी जगह आपको नहीं मिलेगी।' भगवान् देखते हैं—'देखो, यही व्यक्ति मन्दिरमें तो मेरे समक्ष विविध उपचार रखकर बड़े आदर-भावसे मेरी पूजा करता है, पर जब मैं इस रूपमें यहाँ इसकी पूजा ग्रहण करने आया हूँ, तब बुरी

तरहसे यह मुझको एवं अपने-आपको ठग रहा है।' वास्तवमें तो हम ही ठगे जाते हैं, क्योंकि सर्वसमर्थ प्रभु तो नित्य अपनी अखण्ड महिमामें स्थित हैं, अपने स्वरूपानन्दसे नित्य परिपूर्ण हैं, हमारी पूजा ग्रहण करनेकी आवश्यकता उन्हें नहीं है, वे तो स्वभावगत करुणावश हमारा मङ्गल करनेके लिये ही हमारी पूजा स्वीकार करते हैं। पूजा करनेका जो कुछ भी फल है, लाभ है, वह तुरन्त पूजा करनेवालेको ही वे लौटा देते हैं। जैसे सज-धजकर हम दर्पणके सामने खड़े होते हैं तो उस समय हमारे मुखका सौन्दर्य दर्पणमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बको भी ठीक उसी मात्रामें सुन्दर बना देता है, हमारी सजावटको दर्पण पूरा-पूरा हमें ही तुरन्त उसी क्षण लौटा देता है, वैसे ही प्रभुके प्रति की हुई सद्भावना, उन्हें समर्पित की हुई वस्तु, उनको छूकर उसी क्षण हमारे पास चली आती है, हमारी पूजाको प्रभु ज्यों-की-त्यों अविलम्ब हमें ही अर्पित कर देते हैं। हमारी दूकानपर ग्राहकके रूपमें आये हुए भगवान्‌की यदि हम वञ्चना करते हैं, तो वह असद्‌व्यवहार हमपर ही प्रतिफलित होता है, दूसरेपर नहीं, प्रभुको ठगने जाकर हम स्वयं ठगे जाते हैं। ऐसा न करके यदि हम अपने दैनिक व्यवहारोंको विशुद्ध बना लें, दूकानपर आये हुए प्रत्येक ग्राहकके रूपमें प्रभुको पहचानकर सबको समान आदरभाव देते हुए पवित्र लेन-देन करें तो यह हमारी खरीद-बिक्री ही विश्वरूप प्रभुकी पूजा बन जायगी। ऐसे ही यदि हम चिकित्सक हैं तो प्रत्येक रोगीमें प्रभुको पहचानकर, शिक्षक हैं तो प्रत्येक छात्रमें भगवान्‌को विराजित देखकर और वकील हैं तो प्रत्येक वादी, प्रतिवादी, न्यायाधीश, साक्षीमें, अपने इष्टदेवको ही अभिव्यक्त देखकर यथायोग्य अपने उचित विशुद्ध व्यवहारसे उनकी पूजा कर सकते हैं। हम जहाँ जिस क्षेत्रमें हैं, जिस परिस्थितिमें जो भी काम

करते हैं, वहीं उसी क्षेत्रमें, उसी परिस्थितिमें अपने कामको विशुद्ध बना सकते हैं तथा फिर अपने सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिमें प्रभुको देखकर उन्हें यथायोग्य रूपमें अपनी विशुद्ध पूजा समर्पित कर सकते हैं। अनादि-संस्कारवश एक बार ऐसा करनेमें कुछ कठिनताका अनुभव हो सकता है, पर यदि हममें लगन है, अपने जीवनको पूजामय बनानेके लिये हम कटिबद्ध हैं तो अनन्त शक्तिमान् प्रभुकी शक्ति अपने-आप हमें ऊपर उठाने लगेगी, कठिनाइयाँ दूर होती जायँगी, आगे-से-आगे सुगम पथ दीखता जायगा। फिर हमें यह भ्रम नहीं होगा कि पूजाके उपयुक्त साधन ही हमारे पास नहीं हैं। हम करें तो क्या करें। हमें तब स्पष्ट दीखेगा कि जिस वेषमें प्रभु पूजा ग्रहण करने आये हैं, उसके अनुरूप पूजाकी सामग्री उन्होंने पहलेसे ही हमारे पास भेज रखी है। परम उत्साहसे हम उन सामग्रियोंका खुले हाथों उपयोग करेंगे तथा धीरे-धीरे हमारा जीवन पूजामय होकर ही रहेगा।

मन्दिरमें विराजित ठाकुरजीकी नित्य पूजा करनेवाले, अचल श्रद्धा, निश्चल प्रेमसे पूजाकी विविध सामग्रियोंको अर्पण करके रामको रिझानेवाले भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीने पूजाका एक अत्यन्त सुन्दर क्रम बताया है। वे कहते हैं—'रे मन! समस्त दुःखद्वन्द्वोंको नाश कर देनेवाले आनन्दमय प्रभुकी तू ऐसी आरती (पूजा) किया कर। इन्द्रियोंके नियामक प्रभुने ऐसी आरती करनेकी शक्ति तेरी इन्द्रियोंमें दे रखी है, उनकी शक्तिसे शक्तिमान् होकर तू इस प्रकारकी आरती आरम्भ कर! देख तू धूप देना तो जानता ही है; पर आज एक नया धूप तुझको बताता हूँ। जड़, चेतन, सारा विश्व प्रभुका ही रूप है। वे सर्वत्र निरन्तर विराजमान हैं—इस वासना (सुगन्ध) की धूप तू प्रभुको समर्पित कर। इस धूपसे प्रभुका विश्वरूप सारा मन्दिर सुवासित

हो जायगा। तेरी भी 'यह अपना, यह पराया', 'यह अच्छा, यह बुरा', इस प्रकारकी भेदरूप दुर्गन्ध मिट जायगी। ऐसी धूप देकर फिर स्वरूप-ज्ञानका दीपक जला दे, प्रभुके साथ सदा-सर्वदा संयुक्त रहनेकी अनुभूति कर ले। इस प्रदीपके आलोकमें तेरे ऊपर छाया हुआ क्रोध, मद, मोह आदिका अँधेरा नष्ट हो जायगा, इतना ही नहीं, इस ज्ञानके प्रकाशमें तेरे समीप रहनेवाले सपरिकर अभिमानरूप प्रबल डाकूकी शक्ति नष्ट हो जायगी, यही डाकू तो तेरी की हुई पूजाका फल लूट लेता है। इस ज्ञानकी ज्योतिके सामने फिर इसकी शक्ति ठहर नहीं सकेगी; क्षीण हो जायगी। अब निश्चिन्त होकर भाव (भक्ति) का नैवेद्य अर्पण कर। तेरी प्रत्येक चेष्टा प्रभुको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे ही हो, इस निर्मल भावका ही तू भोग कर; तेरा यह सुन्दर नैवेद्य प्रभुको अत्यन्त सन्तोषकर होगा। यह करके फिर प्रेमका ताम्बूल सामने रख दे; तू इतना कोमल, सरस, सुगन्धित दोषहारी बन जा कि प्रभु तुझे अपने ओठोंपर धारण कर लें, तू उनकी स्मृतिका विषय बन जाय। इसका परिणाम यह होगा कि दुःख तुझे छू नहीं सकेंगे, संशय तुझे चञ्चल नहीं बना सकेगा, उनकी अनन्त शोभा, असीम सौन्दर्यके प्रवाहसे तू इतना भर जायगा कि अपार संसारकी वासनाओंके बीज फिर तुझमें ठहर नहीं सकेंगे, बह जायँगे। फिर तुझे यह अनुभव होगा कि अभी-अभी जो दस इन्द्रियरूपी दस बत्तियाँ अशुभ-शुभ कर्मरूपी घृतमें सनी थीं, उनका आसक्ति-त्यागरूप अग्निसे संयोग हो गया है, उनमेंसे सत्त्वगुणरूपी लौ निकल रही है। लौ भक्ति, वैराग्य, विज्ञानमें परिणत हो रही है। बस, इन्हीं भक्ति-वैराग्य-विज्ञानरूपी दीपोंसे तू जगन्निवास प्रभुकी नीराजन (आरती) कर, अपने भक्ति, वैराग्य, विज्ञान—ये भी तू उन्हें समर्पित कर दे। रे मन ! धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, नीराजनसे

पूजा हो चुकी। अब तो अपने हृदयके मन्दिरमें शान्तिकी शय्या बिछा दे, शान्तिसे हृदयको भर ले। इस शान्तिके पलङ्गपर ही प्रभु श्रीराघवेन्द्र सुखसे शयन करेंगे। देख, उनकी सेवाके लिये अपने हृदय-मन्दिरमें क्षमा एवं करुणा आदिके रूपमें परिचारिकाएँ भी नियुक्त कर दे। इतना करके फिर झाँककर देख! तुझे दीखेगा कि वहाँ प्रभु हैं एवं उनकी ज्योतिसे हृदय-मन्दिर चम-चम चमक रहा है। 'मैं-मेरा, तू-तेरा' मायासे उत्पन्न भेदका यह अँधेरा सदाके लिये मिट गया है। मन! तू जान ले यही वह आरती है जिसमें महान् तत्त्वदर्शी ऋषि, मुनि, योगी, ज्ञानी सदा लगे रहते हैं, प्रभुकी पूजा करते रहते हैं। ऐसी पूजा जो भी करता है, वह कामादि समस्त दोषोंसे मुक्त होकर तरण-तारण बन जाता है—

ऐसी आरती राम रघुबीरकी करहि मन।
हरन दुख-दुंद गोबिंद आनन्दघन॥
अचर-चर रूप हरि, सरबगत, सरबदा।
बसत, इति बासना धूप दीजै।
दीप निजबोधगत कोह-मद-मोह-तम,
प्रौढ़ अभिमान चितवृत्ति छीजै॥
भाव अतिसय बिसद प्रवर नैवेद्य सुभ,
श्रीरमण परम सन्तोषकारी।
प्रेम तांबूल गत कुल संसय सकल
बिपुल भव-बासना-बीजहारी॥
असुभ सुभकर्म-घृतपूर्न दस बर्तिका,
त्याग पावक, सतोगुण प्रकासं।
भक्ति-वैराग्य-बिज्ञान दीपावली,
अर्पि नीराजनं जगनिवासं॥

बिमल-हृदि-भवन-कृत शांति-पर्यंक सुभ,
सयन बिश्राम श्रीरामराया।
क्षमा-करुना प्रमुख तत्र परिचारिका,
यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया॥
एहि आरती-निरत सनकादि, श्रुति, सेष, सिव,
देवरिषि, अखिल मुनि तत्त्व-दरसी।
करै सोइ तरै, परिहरै कामादि मल,
बदति इति अमलमति दास तुलसी॥

यदि गोस्वामी तुलसीदासके इस सन्देशको हम भी ग्रहण क सकें, इसे अपने जीवनमें उतार सकें तो हमारा जीवन भी वास्तव पवित्र भगवत्-पूजामय बन जाय। पूरा नहीं, हम यदि केवल इ प्रकारकी धूप एवं ऐसा नैवेद्यमात्र, केवल दो सामग्री ही प्रभुको अर्पि कर सकें—सर्वत्र प्रभुको विराजित, सबको प्रभुका ही रूप देखक यदि उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा कर सकें तो हमारा काम तो इतनेसे ह ही जाय। मन्दिरमें तो हम पूजा करें ही, साथ ही अपनी दिनचर्यामें दो बातें और बढ़ा लें। फिर हमारी पूजा सर्वाङ्गीण हो ही जायगी, हमा एवं प्रभुका मिलन भी तुरन्त ही हो जायगा और उनसे मिलकर ह सदाके लिये सुखी हो जायँगे।

★

# मानसिक विष और उसके त्यागके उपाय

एक विष तो ऐसा होता है कि उसकी क्रिया सीमित रहती है, परिणाम भी निश्चित रहता है—जैसे सङ्खिया। किसीने सङ्खिया खा लिया तो उसकी क्रिया शरीरतक ही सीमित रहेगी। शरीर जलने लगेगा, असह्य पीड़ा होगी, हृदयकी गति बन्द हो जायगी, प्राण निकल जायँगे। बस, इससे अधिक सङ्खिया खा लेनेपर और कुछ भी नहीं होगा। पर कुछ विष ऐसे हैं, जिनकी क्रिया बड़ी व्यापक होती है, परिणाम भी निर्धारित नहीं होता। वे विष हैं—घृणा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि दुर्गुण। इनका सेवन मनके द्वारा होता है। इनमेंसे किसीको भी किसी प्राणीने यदि अपने अन्दर स्थान दे रखा है तो वह सङ्खियाकी तरह सीमित क्रिया करके, निश्चित फल देकर ही निवृत्त नहीं होगा। ये दुर्गुणरूपी विष तो ऐसे हैं जो जन्म-जन्मान्तरतक साथ रहेंगे, सदा जलाते रहेंगे, अनेक प्रकारकी यातनाएँ देते रहेंगे और न जाने कितनी बार जन्म-मरणकी मार्मिक पीड़ा देंगे।

किन्तु जब मनुष्यकी बुद्धिमें तमोगुण बढ़ता है, तब वह भ्रमवश इन दुर्गुणोंमें अमृतकी भावना करने लगता है; फिर तो वह विरोधी व्यक्तिसे, समाजसे, जातिसे, राष्ट्रसे असूया-घृणा करनेमें अपने गौरवकी रक्षा मानता है, द्वेष-वैर करनेमें अपनी प्रतिष्ठाकी रक्षा होते देखता है, कामनाओंके पोषण करनेका नाम प्रगति रखता है, अन्दर बसी हुई क्रोधकी वृत्तिको तेज मानने लगता है, मदका नाम आत्म-सम्मान रखकर उसकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझने लगता है, लोभको अपनी उन्नतिका साधन समझता है, मोहका नाम प्रेम रखकर जीवनको बर्बाद कर देना आदर्श मानता है, मात्सर्यको व्यक्ति, समाज, जाति और राष्ट्रके सुधारके लिये आवश्यक वस्तु अनुभव करता है। इसीलिये ये विष—ये दुर्गुण मनुष्यमें बढ़ते चले जाते हैं। अन्तःकरण

इनसे इतना ढक जाता है कि हृदयमें विराजित प्रभुकी ओरसे निरन्तर बढ़ती हुई आनन्दधाराके लिये द्वार ही बन्द हो जाता है, हमारी इन्द्रियोंमें प्रभुके द्वारा दिये हुए उस परमानन्दका एक कण भी नहीं आ पाता। इन्द्रियाँ स्थायी आनन्द पानेके लिये तरसती रहती हैं, भटकती रहती हैं, पर उन्हें स्थायी आनन्द कभी नहीं मिलता।

जिस समय हमारे अन्दर किसीके प्रति घृणाकी वृत्ति जागती है, द्वेषका भाव उदय होता है, किसी वस्तुके लिये कामना होती है, किसी वस्तु या व्यक्तिको निमित्त बनाकर क्रोध उत्पन्न होता है, अपने प्रभाव, प्रभुत्वकी स्मृति होकर मदके विचार आने लगते हैं, किसी वस्तुके प्रति लोभ होने लगता है, किसी व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेषमें मोह (ममता) जाग उठता है, किसीकी उन्नति देखकर मत्सरता (ईर्ष्या, डाह) आती है; उस समय उन-उन वृत्तियोंके अनुरूप ही विचारोंकी मूर्तियाँ बनने लग जाती हैं। घृणासे बनी हुई विचारमूर्तिमें नीचे-ऊपर, भीतर-बाहर घृणा भरी रहेगी, द्वेषकी विचारमूर्तिमें द्वेष भरा होगा, इसी प्रकार अन्य विचारमूर्तियोंमें भी वे-वे भाव भरे होते हैं। इन मूर्तियोंमें कम्पन होता रहता है तथा ये जैसी हैं, उसी प्रकारकी किरणें इनसे निकलती रहती हैं। साथ ही, जैसे ये मूर्तियाँ हमारे अन्दर बनीं कि बस, उसी क्षण, जिनके निमित्तसे बनी हैं, उनकी ओर दौड़ जाती हैं, उनके पास पहुँच जाती हैं। उदाहरणके लिये हम घृणाको लें। हमारे अन्दर किसीके प्रति घृणाकी वृत्ति आयी कि उसी क्षण एक घृणामयी विचारमूर्ति बन गयी तथा तुरन्त ही वह उस व्यक्तिके पास जा पहुँची कि जिसके प्रति हमने घृणा की है। वहाँ जाकर यह उस व्यक्तिके शारीरिक तेज (Aura) से चिपट जाती है तथा यदि उसमें पहलेसे ही वैसा बीज (घृणाका सुप्तभाव) वर्तमान है तो उसमें भी अपने अनुरूप घृणाका भाव पैदा कर देती है। यदि वह व्यक्ति उस दूषित भावको ग्रहण करनेके लिये पहलेसे ही घृणाका भाव लिये तैयार बैठा है तब तो कहना ही क्या है, फिर तो क्षणभरका भी विलम्ब न होकर उसपर

इसका प्रभाव पड़ जाता है और उसके अन्दर भी घृणाका दूषित भाव बेहद बढ़ जाता है। पर कहीं वह व्यक्ति दूसरे विचारमें लगा है, ऐसे विचारोंसे उसका मन भरा है कि जिनसे इसका मेल नहीं खाता तो वहाँ यह हमारी घृणासे निर्मित मूर्ति उस मनुष्यके चारों ओर घूमती रहती है, मौका ढूँढ़ती रहती है कि प्रवेश करनेका कोई भी अवसर मिल जाय। जहाँ एक भी छिद्र इसे मिला, उसके मनमें एक भी घृणासम्बन्धी स्फुरणा आयी कि हमारी वह घृणामयी मूर्ति उसकी स्फुरणासे जुड़ जाती है तथा फिर तो वहाँ घृणाके भावोंका ताँता लग जाता है। इसी प्रकार द्वेष, वैर, काम, मद, लोभ, मोह, मत्सर आदि भी हमारे अन्दर उत्पन्न होते हैं, इनकी विचारमूर्तियाँ बन जाती हैं, जिनके निमित्त बनती हैं; उनके पास जा पहुँचती हैं तथा उनमें द्वेष, वैर, काम, क्रोध आदि उत्पन्न कर देती हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम किसी स्थानपर बैठे हैं तथा किसी निमित्तको लेकर हममें पहले घृणा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध आदिके भाव उत्पन्न हुए, पर फिर कुछ देर बाद उस निमित्तको तो हम भूल गये और यों ही किसी व्यक्ति-विशेषको लक्ष्य करके नहीं—स्वभाववश हमारा मन क्षण-क्षणमें बदलते हुए घृणा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध आदि भावोंसे भावित होने लगा तो उस समय भी इनकी विचारमूर्तियाँ तो बनती ही रहती हैं तथा कोई निश्चित लक्ष्य न रहनेके कारण यद्यपि निश्चित व्यक्तिके पास दौड़कर नहीं जातीं, किन्तु जहाँ जिस स्थानपर ये पैदा हुई हैं, वहाँके आकाशमें, वहाँके वातावरणमें ये बिखर जाती हैं। वहाँ ये नाचती रहती हैं तथा वहाँ जो भी व्यक्ति आता है, उसपर न्यूनाधिक प्रभाव डालती हैं। हममेंसे अधिकांश इस बातको कई बार अनुभव करते हैं, भले ही हम इसका असली रहस्य न समझें। हम देखते हैं—हम कहीं चले जा रहे हैं, कोई भी कारण नहीं है, पर सहसा हमारे अन्दर घृणाके भाव आने लगते हैं, द्वेषकी वृत्ति जाग उठती है, कामवासना उत्पन्न हो जाती है। ऐसा क्यों होता है ? इसीलिये कि उस

स्थानपर, वहाँके आकाशमें, वातावरणमें, घृणा-द्वेष-कामकी विचार-मूर्तियाँ तैर रही हैं, हमसे आकर टकरा गयी हैं। हम असावधान थे, हमारा अन्दरका द्वार खुला था, वह प्रवेश कर गयी और अपने अनुरूप घृणा, द्वेष आदिके विचार उसने हमारे मनमें भी उत्पन्न कर दिये। सारांश यह कि हमारे अन्दरके दुर्गुण-रूपी विष केवल हमें ही नहीं जलाते, हमारे अन्दरसे निकल-निकलकर तथा दूर-दूरतक फैलकर दूसरोंके पास भी जा पहुँचते हैं और उन्हें भी सन्तप्त करने लगते हैं। यह भी नहीं कि एक बार जलाकर ही शान्त हो जायँ, इन्हें जहाँ एक बार भी स्थान मिल गया तो फिर ये सदा बने रहते हैं और इनकी लपट बढ़ती ही रहती है। ऐसे व्यापक एवं भयंकर फल देनेवाले हैं ये दुर्गुणरूपी विष !

इस विषयसमूहका—दुर्गुणोंका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा हम सदा जलते रहेंगे, कभी सुखी नहीं होंगे। प्रभुके दिये हुए निराविल परमानन्दकी अनुभूति हमें कभी नहीं होगी। वह आनन्द हमें मिलनेका ही नहीं है। आज उस आनन्दकी छायाको विषयभोगके समय यदि हम पाते भी हैं तो उसमें भी ये विष मिल जाते हैं; क्योंकि जिस अन्तःकरणसे, जिन इन्द्रियोंसे हम भोगने जाते हैं, उनमें ये दुर्गुणरूपी विष भरे पड़े हैं, हमारे लौकिक आनन्दको भी ये विषैला कर देते हैं। इसलिये इनका प्रतीकार हमें करना ही है, पर प्रतीकार बातोंसे नहीं होगा। इन्हें शान्त करनेके लिये हमें साधनामें तत्पर होकर लगना पड़ेगा, न जाने कबसे स्थान पाये हुए और निरन्तर बढ़ते हुए इन दुर्गुणोंको जड़-मूलसे उखाड़ फेंकनेके लिये हमें सदा सजग रहकर परिश्रम करना पड़ेगा।

वह साधना क्या है ? किस प्रकारका परिश्रम है ? इसका उत्तर यह है कि इसके लिये पहले तो यह दृढ़ विश्वास करना पड़ेगा कि वास्तवमें ये भयानक विष हैं और शीघ्र-से-शीघ्र त्यागने योग्य हैं। यदि इनमें हमारी गुण-बुद्धि बनी रही तब तो ये छूटने असम्भव ही हैं।

इसलिये पहले तो इन समस्त दोषोंमें हमारी विष-बुद्धि हो एवं फिर साधनामें लगें। जिस समय हमारे मनमें किसीके प्रति घृणाकी वृत्ति जागे, उसी समय उसी क्षण हम अपनेमें उसके प्रति प्रेमकी भावना जाग्रत् करें। किसी दोषको देखकर ही हम उससे घृणा कर रहे हैं, पर क्या उस व्यक्तिमें केवल दोष-ही-दोष भरे हैं? उसमें कोई भी सद्गुण नहीं है? सब दोष-ही-दोष भरे हों, एक भी सद्गुण न हो यह तो असम्भव है। जगत् बना है सत्, रज एवं तमके मिश्रणसे। जहाँ तम है वहाँ रज, सत् भी हैं ही। मात्रा कितनी भी अल्प हो। जहाँ हमें केवल तमोगुण दीखता है, तमोगुणके परिणाम-दोष दीखते हैं वहाँ सत् एवं सत्त्वगुणके परिणाम-स्वरूप कोई-न-कोई सद्गुण भी है ही। फिर हम क्यों नहीं अपनी दृष्टि उस सद्गुणपर ठहराकर उस व्यक्तिसे प्रेम करना आरम्भ करें? उसके उसी सद्गुणको देखते हुए हम उसके प्रति प्रेमकी भावना भेजें। इसका निश्चय परिणाम यह होगा कि जैसे घृणाकी भावना दूसरेमें भी घृणा उत्पन्न करती है, वैसे ही प्रेमसे सनी हुई हमारी गुणदृष्टि उस व्यक्तिके पास जाकर उसके उस अल्प सद्गुणको बढ़ा देगी, उसमें प्रेमका बीज बो देगी। उसके प्रति प्रेमकी भावना करके उसमें सद्गुण देखकर हमने उसे तो ऊपर उठाया ही, हमारे अन्दर जो घृणाकी गन्दी लहर उठी थी उसे इस प्रेमकी लहरने दबा दिया। हम जलने लगते, पर उसके बदले हममें सुखमयी शीतलता आ गयी।

जब हममें किसीके प्रति द्वेषका भाव उत्पन्न हो, उस समय तुरन्त हम यह भाव करें कि 'नहीं, यह तो हमारा मित्र है, निश्चय मित्र है, इसके द्वारा हमारी बुराई हो नहीं सकती।' जहाँ ये भाव हमारे मनमें आये कि ये दौड़कर उसके पास भी जा पहुँचेंगे, उसके अनजानमें उसके अन्दर हमारे प्रति मित्रताका बीज बो ही देंगे। यह सम्भव है कि

उस व्यक्तिका हृदय उपयुक्त न होनेके कारण अथवा हमारे मित्रभावका बीज पुष्ट न होनेके कारण इसके अङ्कुरित होनेमें समय लगे। पर उसमें मित्रभावका आरम्भ तो हो ही गया। साथ ही जो द्वेषकी वृत्ति हमें जलाती थी; वह शान्त हो गयी।

जिस क्षण कामसम्बन्धी कोई भावना मनमें प्रकट हो, उस क्षण हम भोगके त्यागकी परम उज्ज्वल भावनाएँ बढ़ाने लग जायँ। भोगको त्याग करनेवाले सन्त पुरुषोंकी त्यागमयी सुन्दर घटनाओंका स्मरण कर वैसे विचारोंकी आवृत्ति करने लगें। परिणाम यह होगा कि तत्परतासे की हुई यह आवृत्ति त्यागमयी विविध सुन्दर विचारमूर्तियोंका निर्माण करने लगेगी। इतना ही नहीं, वातावरणमें ऐसे सुन्दर जो भी विचार फैले होंगे, उनको अपनी ओर आकर्षित करने लगेगी, हमारे ये सुन्दर भाव पुष्ट होने लगेंगे। हमारे अन्दर तो वह कामकी कुत्सित वृत्ति दबेगी ही, वातावरणमें सुन्दर त्यागमय परमाणु बिखर जायँगे, जो दूसरोंकी जलन शान्त करनेमें भी सहायक बनेंगे।

क्रोध आनेकी सम्भावनासे पूर्व ही हम क्षमाके विचारोंका मनन आरम्भ कर दें। परिणाम यह होगा कि स्वभाववश क्रोध आनेपर उनके आगे-पीछे क्षमाके भाव, क्षमाकी मूर्ति घेरे रहेगी। हम सोचें—जब हमसे अपराध बन जाता है, तब 'हमपर कोई नाराज न हो, हमें क्षमा कर दे', यह इच्छा हममें होती है या नहीं ? न जाने हम प्रभुका कितना अपराध प्रतिदिन, प्रतिक्षण करते हैं। यदि प्रभु हमें क्षमा न करें तो हमारी क्या दशा हो। अनन्त अपराध हमसे होते हैं और प्रभु अनन्त बार क्षमा करते हैं। फिर हम भी ऐसा निश्चय क्यों न करें कि हमारा भी यदि कोई बार-बार अपराध करता है तो हम भी उसे बार-बार क्षमादान ही देंगे। तभी हम प्रभुसे क्षमा पानेके अधिकारी हैं। कहनेका

तात्पर्य यह कि हमारा यदि क्रोधी स्वभाव है तो हम बड़ी तत्परतासे दिन-रात निरन्तर क्षमाकी भावनाओंको अपने अन्दर बढ़ायें। अन्यथा जैसे आग जिस वस्तुमें प्रकट होती है; पहले उसे जलाती है, फिर सम्पर्कमें आनेवाली दूसरी-दूसरी वस्तुओंको। वैसे ही क्रोधाग्निसे हम पहले जलेंगे, फिर औरोंको जलायेंगे। यदि हमें इस क्रोधरूपी विषकी ज्वालासे स्वयं बचना है तथा औरोंको बचाना है तो क्षमाकी भावनासे मनको भरते चले जायँ। क्षमाके ये भाव कभी निष्फल तो होंगे ही नहीं, बल्कि हमें शीतल करके दूसरोंके उन दोषोंको भी निश्चय धो देंगे।

ऐसे ही जब अपनेमें पूर्णताकी मिथ्या अनुभूति होकर अथवा अपना प्रभुत्व, गुण देखकर मद जागे, तब हम सोचें—'यह हमारा मद कितना मिथ्या है। हम बड़े भारी वक्ता हैं। माना, पर वाणीमें बोलनेकी शक्ति किसकी दी हुई है? प्रभुने ही तो यह शक्ति दी है। यदि प्रभु आज वाणीकी शक्ति छीन लें, लकवा मार जाय तो हमारा यह मद धूलमें मिल जाय या नहीं? हम बड़े भारी विद्वान् हैं, सभी विषयोंकी जानकारी रखते हैं ठीक है, पर हमारे मनमें विद्याका उन्मेष किसने किया? विद्या ग्रहणकी शक्ति मनमें किसने दी। प्रभुकी शक्तिके बिना क्या यह सम्भव है? यदि वे अपनी शक्ति हटा लें, हमारा मस्तिष्क विकृत हो जाय तो हमारा यह विद्यामद चूर-चूर हो जाय या नहीं? हमारा रूप बड़ा सुन्दर है, कण्ठ बड़ा मीठा है, सङ्गीतमें हमारी बराबरी कौन कर सकता है? बहुत ठीक, पर कल यदि हमारे अनन्त दुष्कर्मोंमेंसे किसीके फलस्वरूप प्रभु यह विधान कर दें कि चेचक हो जाय, कोढ़ हो जाय, गलेमें कैंसर हो जाय, तो हमारा वह सुन्दर रूप, कलापूर्ण कण्ठ तीन कौड़ीका हो जायगा या नहीं।' मतलब यह कि मदकी वृत्ति जागते ही मनमें अपनी दीनताके भाव तथा सारा महत्त्व

प्रभुका है यह भाव बढ़ाने लगें ? ये पवित्र दैन्यके विचार और इनसे निर्मित भावमूर्तियाँ हमारे मदको तो कुचल देंगी ही, दूसरेमें भी प्रभुके प्रति आस्तिकताका, प्रभुके महत्त्वका भाव उदय करेंगी। स्वयं हम प्रभुके चरणोंमें नत होकर अभिमानके भारसे मुक्त होंगे, दूसरेका भी भार हलका कर देंगे।

लोभकी वृत्तिको हम सन्तोषकी भावनासे नष्ट कर दें। जहाँ मनमें किसी भी वस्तुका लोभ आया हुआ दीखे, बस तुरन्त सोचना आरम्भ कर दें—'हमें तो सभी आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हैं ही, हमें और चाहिये ही क्या। दयामय प्रभु स्वयं हमारी आवश्यकताओंका ध्यान रखते हैं, अपने-आप वे हमारी सारी व्यवस्था करते हैं।' ऐसी भावनाएँ हमें तो तृप्त करेंगी ही, हमारे सम्पर्कमें जो भी आयेंगे, उनकी अतृप्ति मिटनेमें भी हेतु बनेंगी। हमारे चारों ओर 'अभी तो और चाहिये', यह जो हाहाकार मचा हुआ है, वह भी किसी-न-किसी अंशमें शान्त होगा ही, भले ही वह शान्ति आरम्भमें अत्यन्त नगण्य क्यों न हो।

मोह (ममता) का अवसर आनेपर हम सोचें—'क्या सचमुच यह वस्तु हमारी है। यदि हमारी है तो हमसे हमारी इच्छाके बिना अलग क्यों होती है! हमारी मानी हुई कोई भी वस्तु सदा तो हमारे साथ नहीं रहती। अत्यन्त निकटका हमारा यह शरीर भी तो हमारा साथ नहीं देता। बहुत-से व्यक्ति कहते थे, शरीर हमारा है, पर साथ नहीं गया; चिताकी राख बन गया। फिर थोड़ी-सी इनी-गिनी वस्तुओंको हम 'अपनी' क्यों मानते हैं, यह तो हमारा भ्रम है।' ऐसे विचारोंको हम अपनेमें उद्बुद्ध करें। फिर इनकी भावमूर्तियाँ सदा हमारे चारों ओर नाचती रहेंगी। मोहका प्रसङ्ग उदय होते ही ये हमारे मनमें ऐसे ही विचार जता देंगी, क्योंकि यह नियम है, जो विचार हमारे अपनेसे सम्बद्ध होते हैं वे एक बार उदय होनेके पश्चात् हमारे ही चारों ओर तैरते रहते हैं, रह-रहकर अपने अनुरूप विचारोंको मनमें उदय कराते रहते हैं। फिर यह होगा कि मोहमें पड़कर कर्तव्यविमुख होनेसे हम बच

जायँगे। केवल स्वयं ही नहीं, हमारे ये वैराग्यपूर्ण विचार वातावरणमें फैलकर सर्वथा अनजानमें ही बहुतोंकी व्यथा मिटा देंगे, उनको कर्तव्यपथमें आरूढ़ कर देंगे, नित्य-सत्य परमात्माकी ओर बढ़नेका द्वार खोल देंगे।

इसी प्रकार जब दूसरेकी उन्नति देखकर मत्सरता (डाह) मनमें झाँकने लगे, तब तुरन्त ही उल्लासकी वृत्ति जगाकर हम इसे रोक दें। हमारा अणु-अणु दूसरेकी उन्नतिसे प्रसन्न होने लगे, प्रसन्न होकर हम उसके उन्नत सुखमय जीवनके चित्रोंकी कल्पना मन-ही-मन आरम्भ करें। बिना विलम्ब ये विचारके चित्र उसके पास पहुँच जायँगे। जाकर उसके सुखको तो बढ़ायेंगे ही, साथ ही हमारे चारों ओर वैसा ही उन्नत सुखमय वातावरण बन जायगा। हम सुखी हो जायँगे, क्योंकि यह नियम है, हमारे विचारोंके अनुरूप ही हमारा बाहरी संसार भी बनता है।

यह बात नहीं है कि उपर्युक्त दुर्गुणोंका एवं उनके प्रतीकारका बस इतना ही रूप है कि जितना ऊपर कहा गया है। ये दुर्गुण तो विविध प्रकारसे विविध मनुष्योंमें व्यक्त होते हैं तथा उनके प्रकारके अनुरूप ही अनेक उपायोंसे उनका प्रतीकार भी होता है। इनके त्यागकी एक सुन्दर प्रक्रिया यह भी है कि इनका प्रयोग बदल दिया जाय। उचित मात्रामें रोग-विशेषपर, जैसे सङ्खिया अमृतका काम करता है, वैसे ही ये दुर्गुण भी हमारे सहायक बन सकते हैं। यदि हममें घृणा है, नहीं मिटती तो कोई बात नहीं, यह रहे, अवश्य रहे; पर हम दूसरेसे घृणा न करके अपने अन्दर जो दम्भकी वृत्ति है—मलिन, गिरे हुए पापोंसे भरे हुए होनेपर भी अपनेको उज्ज्वल, ऊँचा, पवित्र दिखानेकी जो आदत है, उससे घृणा करें। ऐसे ही द्वेष दूसरोंसे न करके हम अपनी नीच दुर्बलताओंसे करें, उन्हें पनपने न दें, वे तनिक भी बढ़ी हुई दीखें

कि उनकी जड़ काट दें। कामना करें तो ऐसी करें—'हमें राज्यसुख नहीं चाहिये, स्वर्गसुख भी नहीं, मोक्षसुखकी भी आवश्यकता नहीं, हमें तो यह चाहिये कि संसारमें पड़े हुए, दुःखतापसे पीड़ित समस्त प्राणियोंका दुःख मिट जाय, सभी सुखी हो जायँ।' क्रोध आवे तो अपने मनकी चञ्चलतापर ही आवे, जो बार-बार हमें प्रभुके संयोगसे अलगकर संसारमें घसीट लाती है; हमारे क्रोधसे ऐसी आग निकले कि जिसमें हमारे मनकी चञ्चलता भस्म हो जाय और वह प्रभुमें सदाके लिये समाहित हो जाय। मन हो तो इस बातका कि 'हमपर प्रभुकी कैसी अनन्त अपार असीम कृपा है, उनकी कृपा पाकर हम कितने महान् बन गये हैं, ऐसे ही लोभ हो तो जगत्-रूपमें बिराजित प्रभुकी सेवाका ही हो। तन, मन, धन अपना सर्वस्व लगाकर अतिशय प्रेम एवं आदरसे हम जगत्के प्रत्येक प्राणीकी, उसमें प्रभुको प्रत्यक्ष देखकर निरन्तर सेवा करें। फिर भी अतृप्ति बनी रहे—हाय ! सेवाका बहुत ही कम अवसर मिला, साधन भी हमारे पास नहीं।' कब हमें प्रभुकी सेवाके और भी सुन्दर अवसर एवं साधन प्राप्त होंगे। यदि मोह नहीं मिटता तो न मिटे, बल्कि यह और भी बढ़ जाय, इतना बढ़ जाय कि समस्त जगत्में फैल जाय, सारा जगत् हमारे मोहका विषय हो जाय, प्रभुके नाते सभी हमारे अपने बन जायँ। मत्सरतासे भी डर नहीं, वह भी रहे, पर वह उदय हो हमारी अपनी ही ख्यातिको देखकर; हम उन्नतिके पथपर तो निरन्तर आगे बढ़ते चलें पर अपनी ख्याति देखकर, जगत्में अपना मान-सम्मान देखकर हममें डाह हो, हम उनके मिटनेकी इच्छा करने लगें। इस प्रकार यदि इन दुर्गुणोंका अपने ऊपर उचित मात्रामें प्रयोग हो तो ये दोष ही हमें प्रभुकी प्राप्ति करानेवाले, पद-पदपर परमानन्द, परम शान्तिका दान करनेवाले सद्गुण बन जायँगे।

अनवरत, दीर्घकालतक, आदरपूर्वक हमें या तो दुर्गुणोंके विरोधी भावोंका पोषण करना होगा, या इनको अपने प्रति ही उपर्युक्त ढंगसे जोड़ना होगा। तभी हम इन्हें छोड़ पायेंगे या सहायक बना सकेंगे। पर यदि ऐसी साधनामें लगना, इतना परिश्रम करना हमारे लिये सम्भव न हो तो उस परिस्थितिमें हम एक काम करें—जिन प्रभुसे जगत्‌में अनन्त सद्‌गुण आते हैं, जो अनन्त सद्‌गुणोंकी खान हैं, उनके हाथोंमें हम अपने-आपको पूर्णरूपसे सौंप दें। सौंपते ही हमारे 'अहम्' के स्थानपर प्रभुकी सत्ता व्यक्त हो जायगी, उनके परम दिव्य आलोकमें हमारा अनादि अन्धकार उसी क्षण विलीन हो जायगा। हमारे दोष-दुःख सदाके लिये मिट जायँगे। यह संसार ही हमारे लिये कुछ और हो जायगा। आज जो हमें यह सर्वत्र पाप-तापसे भरा दीखता है, वह फिर दिव्य मधुसे भरा प्रतीत होगा।

**'मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।'**

वायुमें मधु भरा है, मधुर मन्दगतिसे वह प्रवाहित हो रही है। नदियाँ मधुररसका स्राव कर रही हैं—ऐसी अनुभूति करके हम कृतार्थ हो जायँगे।

# भयकी निवृत्ति

हम किसी स्थानपर भयका सर्वथा कोई भी कारण न होनेपर भी वैसे कारणोंकी कल्पना करके भयभीत हो जाते हैं, अन्धकारमें ठूँठ देखकर किसी हिंस्र-जन्तुकी, चोरकी अथवा भूतकी कल्पना करके सिहर उठते हैं, सर्वथा मिथ्या धारणासे डर जाते हैं, किन्तु जो सर्वत्र निरन्तर विराजित हैं, समस्त पदार्थ जिनकी सत्तापर ही अवलम्बित हैं, जो त्रिकाल सत्य हैं, उन भगवान्‌की अनुभूति करके हम निर्भय नहीं हो पाते। जहाँ ठूँठ है, वहाँ न तो हिंस्र-जन्तु है; न चोर है, न भूत है, पर वहाँ उसी ठूँठके अणु-अणुमें निरन्तर भगवान् तो अवश्यमेव हैं, निस्सन्देह हैं। फिर भी हम झूठ-मूठकी मलिन कल्पनासे तो डरने लगते हैं, पर वहाँ नित्य वर्तमान परम सुन्दर सत्यस्वरूप भगवान्‌का अनुभव करके निर्भय नहीं होते। यह है हमारी समझका फेर। इसमें सुधार कर लेना अत्यन्त आवश्यक है, हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है, अन्यथा हमारा भय कभी भी मिटनेका नहीं है।

किसी अवसर-विशेषपर हम कुछ इने-गिने कारणोंसे ही भयभीत होते हैं, इतनी बात नहीं है। हमें तो भय पद-पदपर घेरे हुए हैं। लाड़ला पुत्र है, हम डरते रहते हैं कि हमारे इस पुत्रको कुछ हो न जाय। कुछ सम्पत्ति है, सदा शङ्का बनी रहती है, यह छिन न जाय, कोई चुरा न ले। समाजमें, देशमें हमारा बड़ा प्रभुत्व है, बड़ा सम्मान है, बड़ी कीर्ति है, सदा आशङ्का लगी रहती है कि कहीं हमारा प्रभुत्व मिट न जाय; हमारा सम्मान कम न हो जाय; हमारी कीर्ति कोई छीन न ले। सुन्दर स्वस्थ शरीर है—इसको लेकर भय करनेके कारणोंकी तो गणना ही

नहीं की जा सकती। गाँवमें हैजा फैला है, बस, आजसे गरम जल ही पीना है। प्लेग फैला है, बस, अभी इसी क्षण दूसरी जगह भाग चलें। चेचक फैला है, बस, टीका अभी तुरन्त इसी क्षण लगवा ही लें। अमुक सगे-सम्बन्धीको क्षय हो गया है, उनसे तो जैसे हो अलग ही रहना है। पेटमें दर्द है, कहीं अपेनडिक्स तो नहीं है? एक छोटी फुन्सी है, कहीं सेप्टिक तो नहीं हो जायगा?—सारांश यह है कि शरीरमें किञ्चिन्मात्र भी अनिष्ट उत्पन्न होते ही, अनिष्टकी आशङ्कामात्रसे हम भयसे भर जाते हैं। हममें जो अपेक्षाकृत अधिक धैर्यशाली हैं, उनकी अन्तश्चेतनामें भी मृत्युका भय तो निरन्तर वर्तमान रहता ही है। यहाँतक कि मृत्युको 'खेल', प्रकृतिका स्वाभाविक परिणाम बतलानेवाले अधिकांश प्राणियोंका अन्तर्मन भी—यदि वे गम्भीरतासे अपने हृदयकी परख करें तो दीखेगा—मृत्युके भयसे शून्य नहीं है। मृत्युसे निडर रहनेकी, बननेकी, होनेकी बात कहना-सुनना और बात है तथा वास्तवमें मनका मृत्युसे सर्वथा भयरहित हो जाना दूसरी बात है।

हम इन भयोंसे बचनेके लिये न जाने कितना प्रयास करते हैं। एड़ी-चोटीका पसीना एक कर देते हैं। फिर भी ये तो आते ही हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ये सब-के-सब हम सभीके जीवनमें एक ही समान क्रमसे आवें। क्रममें, मात्रामें, विभावमें तो अन्तर होगा ही, क्योंकि हममेंसे प्रत्येकके संस्कार, वासना एवं कर्म भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु यह अन्तर रहनेपर भी ये आते तो हैं ही! हम देखते ही रह जाते हैं तथा हमारे किसी अत्यन्त प्रियका हमसे वियोग हो जाता है। हमारे आकाश-पाताल एक कर देनेपर भी हमारी सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। कल-बल-छल—सब लगा देनेपर भी हमारा प्रभुत्व, हमारा सम्मान, हमारी कीर्ति धूलमें मिल जाती है। सारा कौशल लगा देनेपर भी, पूरी

सावधानी रखनेपर भी आधि-व्याधिसे जर्जर होकर अथवा किसी आकस्मिक घटनाको निमित्त बनाकर हमारा सुन्दर प्रिय शरीर, नर-कङ्कालके रूपमें परिणत हो ही जाता है। तथा ऐसा जब हो जाता है अथवा होने लगता है, तब उस समय हममेंसे जो आस्तिक होनेका—ईश्वरकी सत्तामें विश्वास करनेका दम भरते हैं, वे भी हाहाकार कर उठते हैं—'हाय रे भगवान्! तुमने यह क्या कर दिया।.....'

जब कहीं ऐसे अवसरोंपर हम यह सोच पाते—क्या भगवान् इतने निष्ठुर हैं कि जननीकी गोदसे पुत्रको छीन लेनेमें, पिताकी दृष्टिसे पुत्रको ओझल कर देनेमें, पति-पत्नीके प्रेमिल सम्बन्धको छिन्न-भिन्न कर देनेमें उन्हें तनिक भी दया नहीं आती? भगवान् भी क्या चोर-डाकूकी तरह धनके लोलुप हैं, जो हमारी सम्पत्ति हरण कर लेते हैं? क्या वे भी हम-जैसे जागतिक प्राणीकी भाँति ईर्ष्यालु हैं, जो हमारा प्रभुत्व, सम्मान, कीर्ति वे सहन नहीं कर पाते और उसे नष्ट कर देते हैं? क्या प्रभुको भी यह स्वस्थ-सुन्दर कलेवर असह्य हो गया, जो उन्होंने नजर लगा दी और शरीर सूखकर अस्थि-पञ्जर हो गया। इस प्रकार यदि हम एकान्तचित्तसे भयके पूर्व एवं पश्चात्की स्थितिको प्रभुसे जोड़कर उनपर विचार कर पाते तो अन्तर्यामी प्रभु हमें उत्तर देकर हमारा समाधान अवश्य कर देते तथा हम ठीक-ठीक अनुभव करने लगते कि नहीं, प्रभु निष्ठुर नहीं, वे तो दयाके सागर हैं। वे लोलुप नहीं, वे तो नित्य पूर्णकाम, आप्तकाम हैं। वे ईर्ष्यालु नहीं, बल्कि हमारा उत्कर्ष तो उन्हें परम उल्लाससे भर देता है। उनकी दृष्टिमें अशुभका लेश नहीं; परम शुभ, परम मङ्गल एवं अमृतका स्रोत उनकी दृष्टिसे सतत झरता है। वे लेनेकी दृष्टिसे कुछ भी नहीं लेते; जो कुछ लेते हैं उसे कई गुना बनाकर देनेके लिये लेते हैं। हमारी मलिन अवस्था उन्हें सह्य नहीं है,

इसीलिये मलिनता मिटाकर, उसमें अपना निर्मल तेज भरकर लौटानेके लिये ही वे लेते हैं। वे तो किसीका भी अपने प्रियजनसे वियोग नहीं कराते। जहाँ वियोग होते दीखता है, वहाँ वे वास्तवमें भ्रान्ति मिटाते हैं। वे देखते हैं कि मेरी यह भोली सन्तान मेरी ही कृत्रिम मूर्तिको, मेरी ही एक छायाको प्रियजन मानकर इतनी भ्रान्त हो गयी है कि इसकी आँखें बन्द हो गयी हैं, जिस पथसे इसे जाना चाहिये, उस ओर न जाकर यह भोला मानव उधर जा रहा है, जहाँ कँटीली बेलोंका बीहड़ वन है। उसमें फँसकर यह अत्यधिक दुःख पायेगा, इसे बड़ी यन्त्रणा होगी। मेरी इस कृत्रिम मूर्तिमें यह इतना आसक्त हो गया है कि अन्य सारे कर्तव्योंकी अवहेलना कर रहा है, इसके तो उत्थान एवं सुखका द्वार बन्द हो रहा है। यह देखकर प्रभु अपनी ही उस कृत्रिम मूर्तिको अपनी ही एक छायाको जिसे हम 'लाड़ला लाल,' 'प्रियतमा', 'प्रियतम' आदि-आदि नामोंसे पुकारते हैं, कुछ समयके लिये स्थानान्तरित कर देते हैं। फिर हमारी आँखें खुल जाती हैं तथा हम गन्तव्यकी ओर चलने लगते हैं। प्रभुकी यह चेष्टा क्या निष्ठुरता है? यह तो परम स्नेहकी परिचायक है। इसी तरह प्रभु किसीकी सम्पत्ति नहीं हरते। वे तो देखते हैं कि ओह! धन-सम्पत्तिके भ्रममें इससे अपने अङ्गोंमें, हाथोंपर गन्दे कीचड़की पंद्रह तहें लपेट ली हैं, पंद्रह बुराइयोंमें नीचेसे ऊपरतक यह सन गया है*। बस, यह देखकर

* धनसे पंद्रह दोष उत्पन्न होते हैं—चोरी, हिंसा, झूठ, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जुआ, शराब।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥

(श्रीमद्भा० ११। २३। १८)

दयापरवश हुए वे अपने हाथोंसे हमारा कीचड़ धो देते हैं। हमें दीखता है कि वे हमारी सम्पत्ति हर ले रहे हैं, पर वास्तवमें वे हमारा मल धोते रहते हैं। स्वयं पूर्णकाम होनेपर भी हमारे हितका उन्हें कितना अधिक ध्यान है! ऐसे ही किसीकी सच्ची प्रतिष्ठाको भी वे नहीं मिटाते। उन्हें जब दीखता है कि इसके लिये यह प्रतिष्ठा नहीं, घोर विष है और यह इसे पीने लग गया है, इसपर जहर चढ़ने लगा है और प्रतीकार हुए बिना इस विषकी ज्वालामें यह भस्म हो जायगा—तब वे पहला काम यह करते हैं कि प्रतिष्ठाके प्यालेको फोड़ देते हैं, फिर अपमानके रूपमें विरोधी ओषधि (Antidotu) देकर चढ़े हुए जहरको उतार देते हैं। तथा यदि कहीं वे किसीकी सच्ची प्रतिष्ठा भी ले लेते हैं तो हीरेको खरादपर चढ़ाकर और भी चमकीला बना देनेकी भाँति उस प्रतिष्ठाको स्थायी—परमोज्ज्वल बना देनेके लिये, उसमें अपना प्रकाश भर देनेके लिये ही वे लेते हैं। अकारण, निरर्थक वे हमारी प्रतिष्ठाका अपहरण कदापि नहीं करते। इसी तरह जिस मृत्यु (शरीरवियोग) को हम अत्यन्त भयङ्कर मानते हैं, जो हमारे लिये 'हौआ' बनी रहती है, वह भी वास्तवमें भगवान्‌का वरदान है। मृत्यु वस्तुतः प्रभुके द्वारा दिये जानेवाले नवजीवनके उपहारके लिये स्थान बनाने आती है। हम देखते हैं कि यह हमारा प्यारा शरीर है। पर प्रभु देखते हैं कि यह मेरे अमुक प्यारे शिशुपर लपेटा हुआ वस्त्र है, यह जीर्ण हो गया है, जगह-जगह इसमें छेद हो गये हैं। अमुकका वस्त्र ऊपरसे देखनेमें तो सुन्दर दीखता है, पर विषैले कीटाणुओंसे भर गया है, अमुकका तो अत्यन्त मलिन हो गया है। इन बातोंकी ओर उनकी परम शुभ दृष्टि ठीक उपयुक्त समयपर चली ही जाती है तथा वे हमारा वस्त्र बदल देते हैं, पुराना उतारकर हमारी वासनाके अनुरूप नवीन वस्त्र (शरीर) हमपर लपेट देते हैं। अबोध शिशुकी भाँति हम उस समय चीत्कार करते हैं और वे स्नेहमयी

जननीकी भाँति हँस-हँसकर अपने लाड़भरे हाथोंसे हमें नवीन वस्त्र धारण कराते हैं। निःसन्देह हमें ऐसी ही अनुभूति होती यदि हम उन-उन भयके अवसरोंपर अपने एवं भयके बीचमें प्रभुको, उनके मङ्गलमय हाथको देख पाते। फिर भयका दीखना तो बन्द हो ही जाता।

बात यह हो गयी है कि हम निरन्तर अपनी सीमित बुद्धिके आधारपर वस्तुओंको दो भागोंमें बाँटते रहते हैं—ये तो हमारी 'इष्ट' हैं और ये 'अनिष्ट' हैं। आज जो इष्ट हैं, कल अनिष्ट प्रतीत हो सकती हैं, अनिष्ट इष्ट बन सकती हैं, किन्तु वर्गीकरण तो सदा चलता ही रहता है। दो वर्ग बनाकर हम इष्टका स्वागत करते हैं, अनिष्टसे भय करते हैं। अब कदाचित् हम ठीक-ठीक यह समझ जाते कि जिस अनिष्टसे हम भय करते हैं, वह तो हमारे आनेवाले इष्टकी ही पूर्वभूमिका है तो फिर उसी क्षण भय जाता रहता। यदि हम आँख उठाकर देख सकते तो हमें दीखता कि प्रभुकी सृष्टिमें घटनाएँ यह प्रमाणित कर रही हैं कि अनिष्ट आता ही है इष्टको लानेके लिये। अमावस्याका तम आता है चन्द्रज्योत्स्नाको प्रकट करनेके लिये। ग्रीष्मका ताप आता है वर्षाकी शीतल धारासे पृथ्वीको सींचकर प्रफुल्लित कर देनेके लिये। पतझड़ आता है नववसन्तके लिये। आँधी आती है आकाशको निर्मल बना देनेके लिये। ऐसे अगणित उदाहरण मिलेंगे जहाँ हम गम्भीरतासे विचार करनेपर प्रत्यक्ष देख सकते हैं कि अनिष्ट आया है इष्टको ही प्रकाशित करनेके लिये। फिर यदि हमारी टूटी झोंपड़ी जली है तो हम क्यों नहीं ऐसा मानें कि जली है सुन्दर मकान या महल बनानेके लिये, जो कुछ भी ध्वंस हुआ है, वह हुआ है इससे अधिक सुन्दर नवीन निर्माणके लिये, जितने अनिष्ट हुए हैं, वे सब-के-सब हुए हैं परम इष्टकी योजना बनानेके लिये। हमने ऐसा जहाँ माना कि भय भागा।

हममेंसे कई कह सकते हैं कि झोंपड़ीको जलते समय तो हमने देखा, पर वहाँ महल बनते नहीं देखा; ध्वंसकी विभीषिका देखी, किन्तु पुनर्निर्माणका सुन्दर दृश्य सामने नहीं आया; अनिष्ट तो आये, पर इष्टकी झाँकी नहीं हुई तो इसके लिये हमें तनिक और भी गम्भीरतासे सोचना पड़ेगा। हमारा जीवन तो अनादि-अनन्त इतिहासकी एक पोथी है। वर्तमान जीवन उसी पोथीका एक पृष्ठ है। यदि इस पृष्ठपर जलनेकी, ध्वंसकी, अनिष्टकी कथा लिखी हो, इनके चित्र अङ्कित हों तो यह आवश्यक नहीं कि इसी पृष्ठपर पुनर्निर्माणकी, इष्टकी सुखद गाथा भी लिखी ही जाय। ध्वंसका वर्णन पूरा होनेपर ही तो निर्माणकी कथा लिखी जायगी। यदि ध्वंसके वर्णनमें ही पृष्ठ पूरा हो गया है तो अगले पृष्ठोंमें (अगले जन्मोंमें या मरणानन्तरकी गतिमें) नवीन निर्माणके वर्णन (दृश्य) अवश्य मिलेंगे। इस पृष्ठपर नहीं हैं तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अगले पृष्ठोंपर भी नहीं होंगे। पृष्ठ उलटें, फिर देख पायेंगे कि जगन्नियन्ताके इस क्रममें—अनिष्टके बाद इष्टकी प्राप्तिवाले विधानमें कभी व्यतिक्रम होता ही नहीं। अनिष्टके बाद इष्टकी झाँकी मिलेगी ही।

दार्शनिक दृष्टिकोणसे यदि हम भयके हेतुपर विचार करें तो हमें यह पता चलता है—'**द्वितीयाद्वै भयं भवति**', 'परमात्माके अतिरिक्त अन्य वस्तुकी अनुभूति होनेपर ही भय होता है।'

**यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य।**

'जब कोई परमात्मामें थोड़ा-सा भी भेद-दर्शन करता है, उनके अतिरिक्त किसी और सत्ताका अनुभव करता है, तब उसे भय होता है, भेददर्शन करनेवाले विद्वान्के लिये वे परमात्मा ही भयरूप बन जाते हैं।'

**'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्।'**

'देह आदि अनात्मपदार्थमें अभिनिवेश होनेसे ही भय होता है।' निष्कर्ष यह कि यदि हम एकमात्र प्रभुकी सत्ता ही सर्वत्र अनुभव करने लगें; हम प्रभुमें स्थित हो सकें तो हमारा भय सदाके लिये छूट जाय। वास्तवमें ही प्रभुके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। हमें जो कुछ भी प्रतीत होता है, उन सब-के-सब रूपोंमें एकमात्र वे ही अभिव्यक्त हो रहे हैं, किन्तु उनके अतिरिक्त अन्यकी सत्ता न होनेपर भी जब हम अन्यकी सत्ता मान लेते हैं तथा मानकर अन्यका चिन्तन करते हैं, अन्यमें मन लगाते हैं, तब हमें इस ओर मन ले जानेके कारण ही अन्यकी प्रतीति होती है। स्वप्नके समय यह मन ही तो एक विचित्र सृष्टिकी रचना करता है। जागते समय भी जब हम मनोरथके प्रवाहमें बहने लगते हैं, तब मन कितना विचित्र संसार खड़ा कर देता है? मनकी कल्पनामें ही तो यह स्वप्नकी सृष्टि, मनोरथका संसार प्रतीत होता है। इस स्वप्नकी सृष्टि, मनोरथके संसारमें सर्वथा सब ओरसे केवल हम-ही-हम भरे हैं या नहीं? ठीक इसी प्रकार यह जगत् प्रभुका सङ्कल्प है। एकमात्र वे ही इस जगत्में सर्वथा सब समय सब ओरसे सर्वथा परिपूर्ण हैं। फिर भी, उनकी ही एकमात्र सत्ता रहनेपर भी हमारे मनकी कल्पनासे अन्यकी प्रतीति हो रही है। इसीलिये सीधा उपाय यह है कि हम अन्यका सङ्कल्प-विकल्प करनेवाले मनको प्रभुमें निरुद्ध कर दें। मन उनमें निरुद्ध हुआ कि एकमात्र उनकी ही सत्ता बच रहेगी। फिर भय सदाके लिये निवृत्त हो जायगा। आत्मविद्याविशारद 'कवि' नामक योगीश्वर भी भयसे त्राण पानेका उपर्युक्त सङ्केत ही करते हैं—

**अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो-**
**र्ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।**

**तत् कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो**
**बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥**

(श्रीमद्भा० ११।२।३८)

किन्तु हम यदि इस सिद्धान्तको न समझ सकें, मनको निरुद्ध न कर सकें, तो क्या करें ? हमारा भय फिर कैसे मिटे ? क्या हम निराश हो जायँ ? नहीं, निराश होनेकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं। इससे भी अत्यन्त सरल मार्ग है, जिसका अनुसरण निर्बाध-रूपसे हममेंसे प्रत्येक कर सकता है। वह है—प्रभुकी शरणमें चले जानेका मार्ग। उनके दिव्य अमर सन्देशको स्मरणकर; समस्त देहधारियोंके आत्मरूप प्रभुकी शरण हम सम्पूर्ण अन्तःकरणसे ग्रहण कर लें, हम सब प्रकारसे एकमात्र उनकी ही शरण ले लें। बस, फिर उनसे जुड़कर, एक होकर हम सदाके लिये समस्त भयोंसे मुक्त हो ही जायँगे—

**मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।**
**याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥**

भयकी निवृत्ति यदि हम चाहते हों तो अविलम्ब हमें ऐसा कर ही लेना चाहिये।

★

# शान्तिकी खोज

सागरके वक्षःस्थलपर उठती हुई लहरोंको देखकर हम सोचते हैं—ओह ! सागर कितना क्षुब्ध है, कितना चञ्चल है ? पर कदाचित् हम उसी समय सागरके भीतर प्रवेश कर देख पाते तो हमें दीखता कि इन तरङ्गोंसे कुछ ही दूर नीचे जानेपर समुद्रका गर्भ तो बिलकुल शान्त है। ठीक इसी प्रकार जब हम अपने मनको टटोलते हैं तो दीखता है कि यहाँ तो विषयोंकी आँधी चल रही है, किन्तु यदि मनके भीतर प्रवेश करते, मन जिस परमात्माके आधारपर अवलम्बित है, उस परमात्माको छूने लगते, तब अनुभव होता कि यहाँ तो अखण्ड शान्ति छायी हुई है। क्षोभ नहीं, विकलता नहीं; यहाँ तो पूर्ण शान्तिका साम्राज्य छाया हुआ है।

क्या यह सम्भव है कि हम मनके भीतर चले जायँ, परमेश्वरको छू लें, हमें यह पूर्ण शान्ति मिल जाय ! अवश्य सम्भव है। वह शान्ति तो हमारी प्रतीक्षा कर रही है, प्रभु तो हमारी बाट देख रहे हैं कि कब हम बाहरकी ओर शान्ति ढूँढ़ना छोड़कर भीतरकी ओर चल पड़ें, प्रभुसे जा मिलें, उनसे मिलकर हमारी जलन शान्त हो जाय, सदाके लिये हमें पूर्ण शान्ति मिल जाय। पर हम तो उस ओर जा रहे हैं, जिधर शान्ति मिलनेकी नहीं। चाहते हैं हम शान्तिको ही, हममेंसे प्रत्येक निरन्तर शान्ति ही ढूँढ़ रहा है, पर ढूँढ़ रहा है वहाँ, जहाँ शान्ति नहीं है। शान्ति तो एकमात्र प्रभुमें है। प्रभु नित्य हमारे अन्दर ही विराजित हैं, हमारे इसी अशान्त मनकी ओटमें वे अवस्थित हैं, उन्हींके आश्रित हमारा मन है। अपने इतने निकट वर्तमान प्रभुसे जब हमारा मिलन होगा, तभी शान्ति मिलेगी।

अभी हमारी बुद्धि प्रभुको छोड़कर अन्यको विषय कर रही है, हमारा मन प्रभुको भूलकर अन्यका मनन कर रहा है, इन्द्रियाँ प्रभुकी

ओर न जाकर दूसरी ओर दौड़ रही हैं, शरीर प्रभुकी सेवासे विमुख हो रहा है, हमें झूठी ममता फाँसे हुए है और मिथ्या अहङ्कार भ्रमित किये हुए है। इसीसे हम अशान्त हैं। हमारी बुद्धि प्रभुको समर्पित हो जाय, मन प्रभुपर न्योछावर हो जाय, इन्द्रियाँ प्रभुपरायण हो जायँ, शरीर प्रभुकी सेवामें संलग्न हो जाय, झूठी ममता टूट जाय और मिथ्या अहङ्कार मिट जाय— बस, फिर अशान्ति भी सदाके लिये मिट जायगी।

हमें इसीके लिये प्रयत्न करना है। बुद्धिके द्वारा हम प्रभुके स्वरूपका निश्चय करें—'**शान्तिसमृद्धममृतम्**', हमारे प्रभु शान्तिरूप हैं, पूर्ण हैं, अमृतस्वरूप हैं, '**शान्तं ब्रह्मेदमक्रमम्**', प्रभु पूर्ण शान्त हैं, पूर्ण प्रसन्न हैं, '**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म,**' प्रभु विज्ञानस्वरूप हैं, आनन्दस्वरूप हैं, '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**', प्रभु सत्य हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, अनन्तस्वरूप हैं, '**रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयति,**' प्रभु रसस्वरूप हैं, प्रेमस्वरूप हैं, रसस्वरूप-प्रेमरूप प्रभुको ही पाकर तो पुरुष आनन्दभाजन बन जाता है। यदि हृदयके आकाशमें स्थित आनन्दस्वरूप प्रभु न होते तो प्राण-अपानकी क्रिया कौन कर सकता। ये प्रभु ही तो सारे विश्वको आनन्द दान करते हैं, '**एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति**', इन्हीं आनन्दस्वरूप प्रभुके कणमात्र आनन्दके आश्रित रहकर ही तो समस्त जीव जीवन धारण करते हैं, '**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति**', आनन्दस्वरूप प्रभुसे ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर आनन्दस्वरूप प्रभुके द्वारा ही जीवित रहते हैं एवं प्रयाण करते समय आनन्दस्वरूप प्रभुमें ही समा जाते हैं।

**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**
**सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।**
**कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः**
**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥**

हमारे प्रभु ही वे प्रसिद्ध एक देव हैं जो सब प्राणियोंमें छिपे हुए हैं, सर्वत्र व्याप्त हैं, सब जीवोंके अन्तरात्मा हैं, कर्मोंके अध्यक्ष हैं, सब भूतोंके अधिष्ठान हैं, सबके साक्षी हैं, सबको चेतना देनेवाले हैं, केवल हैं, निर्गुण हैं। **'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**, प्रभु ही तो इस विश्वकी रचना करके इसमें प्रवेश कर गये। **'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः'**, प्रभु तो हमारे शरीरमें नखसे लेकर शिखापर्यन्त अनुप्रविष्ट हैं, **'सर्वेषां भूतानामन्तरः पुरुषः स म आत्मेति'**, समस्त प्राणियोंके भीतर जो पुरुष विराजित हैं, वे हमारे अन्तरात्मस्वरूप प्रभु ही तो हैं, **'पुरुष एवेदँ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्'**, भूत, वर्तमान, भविष्यका समस्त जगत् हमारे प्रभुका ही तो स्वरूप है।

**नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-**
**मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।**
**तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-**
**स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥**

'प्रभु अनित्य पदार्थोंमें नित्यस्वरूप हैं, चेतनोंके भी चेतन हैं, वे अकेले अनेककी कामनाएँ पूर्ण करते हैं, जो धीर पुरुष अपनी बुद्धिमें स्थित उन प्रभुको देख लेते हैं, उन्हींको नित्य शान्ति प्राप्त होती है, औरोंको नहीं।' इस प्रकार बार-बार निश्चय करके हम बुद्धिको इन भावोंमें स्थित कर दें, इन भावोंपर दृढ़ अटल संशयहीन विश्वास कर लें, यही बुद्धिका प्रभुमें समर्पण है।

बुद्धिका निश्चय हो जानेपर भी इन भावोंको बार-बार मनसे मनन करनेकी आवश्यकता है, क्योंकि हम देखते हैं—बुद्धिसे हमें यह दृढ़ निश्चय रहता है कि जिधर सूर्योदय होता है, उधर ही पूर्व दिशा है, किंतु यदि हमें दिशाका भ्रम हो जाय तो मनको, नेत्रोंको यह अनुभव होता है कि सूर्योदय तो पश्चिम, दक्षिण या उत्तरमें हुआ है। दिशाभ्रमकी दशामें—कल्पना करें—जहाँ हम कभी पहले नहीं गये, ऐसे किसी अपने घरमें पूर्वकी ओर यदि हमें जाना होता है तो हम मनकी प्रतीतिकी

अवहेलना कर देते हैं, जिधर सूर्योदय हुआ दीखता है, उसी ओर चल पड़ते हैं। साथ ही बार-बार इधर सूर्योदय हुआ है, इधर ही पूर्व है, इधर ही हमारा घर है, यह बात हम अपने भ्रान्त मनको समझाते हुए चलते हैं, अन्यथा पथ भूल जानेकी सम्भावना है। ठीक ऐसे ही बुद्धिमें प्रभुके स्वरूपका निश्चय हो जानेपर भी उसके मननकी, अधिकाधिक स्मरणकी आवश्यकता रहती है, नहीं तो विषयोंके बाजारमें दौड़ते हुए मनके लिये पथ भूल जाना साधारण बात है। हमें चाहिये प्रभुके उपर्युक्त स्वरूपका खूब मनन करें। मनन करते-करते मन तदाकार हो जाय यही मनका प्रभुपर न्योछावर हो जाना है।

मन प्रभुमें तन्मय हो जानेपर तो इन्द्रियाँ अपने-आप उनमें लग ही गयीं। पर इससे पूर्व हमें इन्द्रियोंको प्रभुकी ओर मोड़ना पड़ेगा। हमारे नेत्रोंके सामने जो भी रूप आवे, हम अनुभव करें यह तो हमारे प्रभुका ही रूप है, हमें प्रभुके ही दर्शन हो रहे हैं। कानोंमें जो भी शब्द सुन पड़ें, हम सोचें ये तो हमारे प्रभु बोल रहे हैं। हमें प्रभुके शब्द सुन पड़ रहे हैं। नासिकामें किसी प्रकारकी गन्ध आवे, हम अनुभव करें कि इस गन्धके रूपमें प्रभु ही व्यक्त हो रहे हैं, कैसा भी स्पर्श प्राप्त हो, यह प्रतीत हो कि हमें प्रभुका ही स्पर्श प्राप्त हो रहा है। रसनेन्द्रिय जिस रसका आस्वाद ले उसके लिये हमें यह भान हो कि रसरूपमें प्रभु ही हमारे आस्वाद्य बने हुए हैं। ऐसा कर लेना ही इन्द्रियोंको प्रभुपरायण बना देना है।

वाणीके द्वारा भी प्रभुकी सेवा ही हो। चिथड़ा लपेटे राहका भिखारी मिलने आवे, हमें अनुभव हो कि प्रभु पधारे हैं तथा हम आगे बढ़कर अमृतमयी वाणीसे उनका यथायोग्य स्वागत करें। इसी तरह कदाचित् सम्राट् पधारें, तो हमें यह अनुभव हो कि 'जो प्रभु चिथड़े लपेटे आये थे, वे ही सम्राट् बनकर आये हैं।' सम्राट्‌की सेवा तो उनके अनुरूप ही होनी चाहिये, पर उस भिखारीमें एवं इनमें आभ्यन्तरिक आदरभाव, अपनत्व एवं प्रेमका तिलमात्र भी तारतम्य नहीं हो। यदि

कमी-बेशी हुई तो हमें समझना चाहिये कि परीक्षामें हम अनुत्तीर्ण हो गये। तथा आगेके लिये प्रयास करना चाहिये कि समानभावसे हम सबमें प्रभुको विराजित देख सकें, समान प्रेम कर सकें; समान अपनत्व दे सकें। हमारी वाणी किसीके लिये भी कभी उद्वेगका कारण न बने, वाणीमें सदा मधुरता भरी हो, कभी किसीको रूक्षताकी गन्ध भी न मिले, पूर्ण सत्य भरा हो, उसमें झूठ-कपट-दम्भकी छायातक नहीं हो, सबके हितकी भावनासे ओतप्रोत हो, वैर-विरोध तथा द्वेष-ईर्ष्यासे सर्वथा शून्य हो। इस कसौटीपर कसी हुई वाणी ही हमारे मुँहसे आवश्यक व्यवहारके समय जगत्-रूप प्रभुकी सेवाके लिये निकले तथा इसके अतिरिक्त समयमें भी निरन्तर प्रभुके स्तवन, विशुद्ध प्रार्थना, प्रभुके स्वरूपके प्रवचन, गुण-वर्णन आदिमें ही वाणी डूबी रहे। यह हो गया तो हम समझें कि वाणी भी प्रभुकी ओर मुड़ गयी।

शरीरकी सेवाका कोई अवसर हम खो न दें, इसके लिये सावधान रहें। हमारे शरीरका अणु-अणु प्रभुकी सेवामें ही लगे। अनेक रूपोंमें प्रभु हमारी सेवा लेनेके लिये उपस्थित होते हैं। कभी जेठकी दोपहरीमें केवल पानी पिला देनेके लिये कहते हैं। कभी पथके किनारे अन्धे बने हुए खड़े पथ दिखा देनेकी प्रार्थना करते हैं। कभी हमारे औषधालयके सामने फोड़ेकी वेदना लिये हमसे मरहमपट्टी कर देनेकी, अपने जर्जर शरीरके लिये अच्छी-सी ओषधि देनेकी भीख माँगते हैं तथा कभी स्टेशनसे छूटती हुई गाड़ीके डिब्बेके सामने आकर हमसे किवाड़ खोल देने, भीतर आ जाने देनेकी प्रार्थना करते हैं। माता-पिता, भाई-बन्धु, गुरुजन, परिजन आदि बनकर विविध भाँतिसे विविध अवसरोंपर वे हमारे शरीरसे सेवा लेने आते हैं, सेवा कर देनेकी प्रेरणा करते हैं। पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, वृक्ष-लता बनकर भी हमारे सामने आते हैं, हमें सेवाका अवसर देते हैं। दिनभरमें न जाने कितनी बार किन-किन रूपोंमें आते हैं और हमें धन-जनसे नहीं, केवल शरीरमात्रसे सम्पन्न होनेवाली अपनी सेवाका मौका देते हैं। हमें चाहिये कि इन सभी

अवसरोंपर पूरे उत्साहसे हम अपने शरीरको प्रभुकी यथायोग्य सेवामें नियोजित कर दें। साथ ही पूरी सावधानी रखें कि सेवाके भ्रममें कहीं प्रभुके किसी रूपको हमारे इस शरीरसे पीड़ा न पहुँच जाय।

उपर्युक्त चारों बातें यदि हो गयीं, बुद्धि प्रभुके स्वरूपमें स्थित हो गयी, मन प्रभुमें तन्मय हो गया, इन्द्रियाँ प्रभुमें लग गयीं, शरीर सेवामें समर्पित हो गया, तब फिर तो इनका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि झूठी ममता टूट जायगी, मिथ्या अहङ्कार विलीन हो जायगा। जहाँ अहङ्कार है, वहीं ममता है। जब वास्तवमें सर्वस्वरूप भगवान्‌की अनुभूति हो जायगी, तब हमारा यह 'मैं' नहीं रहेगा और इसीलिये 'मैं' की सन्तान 'मेरा' भी नहीं रहेगा। 'मैं' के स्थानपर एकमात्र प्रभु बच रहेंगे और 'मेरा' के स्थानपर भी प्रभुका ही पसारा रहेगा। यहाँ एक अखण्ड अनन्त असीम अनिर्वचनीय शान्तिका साम्राज्य फैला होगा तथा यहीं हमारी शान्तिकी खोज भी समाप्त होगी।